सन्मति प्रकाशन नं० ८

# भारत के प्राचीन जैन तीर्थ

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
M A., Ph D.

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल
बनारस-५

१९५२

प्रकाशक—
मंत्री, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल
बनारस—५.

दो रुपया

मुद्रक—
रामकृष्ण दास
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, काशी।

# निवेदन

भारतीय इतिहास की सामाजिक और राजनैतिक सामग्री जो प्राचीन जैन ग्रन्थो में विखरी पडी है उसका उपयोग करके डॉ० जगदीशचन्द्र जी ने प्राचीन भारत के विषय में अपनी पुस्तक अग्रेजी में लिखी थी। उक्त पुस्तक के लेखन के समय भारत के प्राचीन नगरों के विपय में जो सामग्री उन्हें जैनागम और पालिपिटको में मिली उसी के आधार पर प्रस्तुत पुस्तक उन्होने लिखी है। पुस्तक का नाम यद्यपि 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' दिया है तथापि यह पुस्तक केवल जैनो के लिए ही नही किन्तु भारतीय प्राचीन इतिहास और भूगोल के पडितो के लिए भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी इसमें तनिक भी सदेह नही। क्योकि इसमें जैन तीर्थों के नाम से जिन नगरो का वर्णन किया है वह वस्तुत भारतवर्ष के प्राचीन नगरो का ही वर्णन है।

लेखक ने, जहाँ तक सभव हुआ है, उन प्राचीन नगरो का आज के नकशे में कहाँ किस रूप से स्थान है यह दिखाने का कठिन कार्य करके प्राचीन इतिहास की अनेक गुत्थियो को सुलझाने का सफल प्रयत्न किया है। इससे जैनो को ही नही किन्तु भारतीय इतिहास के पडितो को भी नई ज्ञानसामग्री मिलेगी। इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का महत्व बहुत बढ गया है।

पुस्तक में भगवान् महावीर कालीन भारत का और भगवान् महावीर के विहार स्थानो का भी नकशा दिया गया है। उसका आधार उनकी उक्त अग्रेजी पुस्तक है। हमारी इच्छा रही कि पुस्तक में कुछ चित्र भी दिए जाते किन्तु मडल की आर्थिक मर्यादा को देख कर वैसा नही किया गया। डॉ० जगदीशचन्द्र ने प्रस्तुत पुस्तक मडल को प्रकाशनार्थ दी एतदर्थ में उनका आभार मानता हूँ।

ता० ८-२-५२
बनारस-५

निवेदक
**दलसुख मालवणिया**
मत्री,
जैन सस्कृति सशोधन मडल

# विषयानुक्रम



# मानचित्र

# प्रास्ताविक

इतिहास से पता चलता है कि अन्य विज्ञानों की तरह भूगोल का विकास भी शनै शनैः हुआ। ज्यों ज्यों भारत का अन्य देशों के साथ वनिज-व्यापार बढ़ा, और व्यापारी लोग वाणिज्य के लिये सुदूर देशों में गये, उन्हें दूसरे देशों के रीति-रिवाज, किस्से-कहानियाँ आदि के जानने का अवसर मिला, और स्वदेश लौट कर उन्होंने उस ज्ञान का प्रचार किया। वर्ष में आठ महीने जनपद-विहार के लिये पर्यटन करने वाले जैन, बौद्ध आदि श्रमणों तथा परिव्राजकों ने भी भारत के भौगोलिक ज्ञान को वृद्धिगत किया। जैन आगम ग्रन्थों की टीका-टिप्पणियों तथा बौद्धों की अट्ठकथाओं में उत्तरापथ, दक्षिणापथ आदि के रीति-रिवाज, रहन-सहन, खेती-बारी आदि के सम्बन्ध में जो उल्लेख आते हैं उनसे उक्त कथन का समर्थन होता है।

खोज-बीन से पता लगता है कि जिस भूगोल को हम पौराणिक अथवा काल्पनिक समझते हैं वह सर्वथा काल्पनिक प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिये, जैन भूगोल की नील पर्वत से निकल कर पूर्व समुद्र में गिरनेवाली सीता नदी की पहचान चीनी लोगों की सि-तो *(Si-to)* नदी से की जा सकती है, जो किसी समुद्र में न मिलकर काशगर की रेती में विलुप्त हो जाती है। इसी तरह बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि जम्बुद्वीप भारतवर्ष का और हिमवत हिमालय पर्वत का ही दूसरा नाम है। ज्ञाताधर्म कथा के उल्लेखों से मालूम होता है कि प्राचीन काल में हिन्द महासागर को लवणसमुद्र कहा जाता था। इसी प्रकार खोज करने से अन्य भौगोलिक स्थानों का पता लगाया जा सकता है।

बात यह हुई कि आजकल की तरह प्राचीन काल में यात्रा आदि के साधन सुलभ न होने के कारण भूगोल का व्यवस्थित अध्ययन नहीं हो सका। परिणाम यह हुआ कि जब दूरवर्ती अदृष्ट स्थानों का प्रश्न आता तो संख्यात, असंख्यात योजन आदि की कल्पना कर शास्त्रकारों ने कल्पना-समुद्र में खूब

गोते लगाये, जिससे आगे चल कर भूगोल भी धर्मशास्त्र का एक अङ्ग बन गया और वह केवल श्रद्धालु भक्तों के काम की चीज रह गई।

प्राचीन तीर्थों के विषय में चर्चा करते हुए दूसरी महत्त्वपूर्ण बात दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सम्बन्ध में है। आचारांग आदि जैन सूत्रों से स्पष्ट है कि महावीर के समय सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमण जैन संघ में रह सकते थे, यद्यपि स्वयं महावीर ने जिनकल्प—अचेलत्व—को ही अंगीकार किया था। उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तर्गत केशी-गौतम संवाद नामक अध्ययन में पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार के प्रश्न करने पर महावीर के गणधर गौतम स्वामी ने उत्तर दिया है कि "हे महामुने, साध्य की सिद्धि में लिङ्ग—वेष—केवल बाह्य साधन है, असली तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।"

जान पड़ता है कि महावीर के बाद भी जैन श्रमणों में अचेल (दिगम्बर) रहने की प्रथा जारी रही। श्वेताम्बर ग्रन्थों से पता लगता है कि आचार्य स्थूलभद्र के शिष्य आचार्य महागिरि ने आर्य सुहस्ति को अपने गण का भार सौंप कर जिनकल्प धारण किया। इसी प्रकार आर्यरक्षित ने जब अपने कुटुम्ब को दीक्षा देनी चाही तो उनके पिता ने दीक्षा ग्रहण करते हुए संकोच व्यक्त किया कि उन्हें अपनी पुत्री और पुत्र-वधुओं के समक्ष नग्न अवस्था में रहना पड़ेगा। तत्पश्चात् बृहत्कल्प भाष्य (ईसवी सन् की लगभग चौथी शताब्दि) से पता लगता है कि महाराष्ट्र में जैन श्रमणों के नग्न रहने की प्रथा थी और उन्हें लोग अपशकुन मानते थे।

भारतीय मूर्ति-कला के अध्ययन से पता लगता है कि सबसे पहले मौर्यकालीन यक्षों की मूर्तियाँ निर्माण की गई थीं। जैन और बौद्ध सूत्रों में अनेक यक्ष-मन्दिरों (यक्षायतन) के उल्लेख मिलते हैं जहाँ महावीर और बुद्ध अपने विहार-काल में ठहरा करते थे। ये यक्ष ग्राम या नगर के रक्षक माने जाते थे। छोटे-बड़े सब लोग इनकी पूजा-उपासना करते थे। यक्षों में सबसे प्राचीन मूर्ति मणिभद्र (प्रथम शताब्दि ई० पू०) की उपलब्ध हुई है। यक्षों के पश्चात् बोधिसत्त्व, बुद्ध और जिन की मूर्तियाँ निर्माण की जाने लगीं। राजा कनिष्क के समय की ये मूर्तियाँ मथुरा में उपलब्ध हुई हैं। बोधिसत्त्व की प्राचीनतम मूर्ति ईसवी सन् ८ की मिली है। मथुरा के कङ्काली टीले में जो आयाग पट पर लगभग २००० वर्ष प्राचीन जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिली हैं वे नग्न अवस्था में हैं तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों द्वारा पूजी जाती

हैं। इससे स्पष्ट है कि ईसवी सन् के पूर्व दिगम्बर और श्वेताम्बर मूर्तियों में कोई अन्तर न था। वस्तुतः उस समय तीर्थंकरों या सिद्धों के चरणों की पूजा होती थी। सम्मेदशिखर, हस्तिनापुर आदि तीर्थ-क्षेत्रों पर आजकल भी चरण-पादुकाएँ ही बनी हुई हैं। वास्तव में प्राचीन काल में जो शिल्पकला द्वारा बुद्ध-जीवन के चित्र अङ्कित किये गये हैं, वे बोधिवृक्ष, छत्र, पादुका और धर्मचक्र आदि रूपों द्वारा ही व्यक्त किये गये हैं, मूर्ति द्वारा नहीं।

१७वीं सदी के श्वेताम्बर विद्वान् पण्डित धर्मसागर उपाध्याय ने अपनी **प्रवचनपरीक्षा** में लिखा है कि जब गिरनार और शत्रुंजय तीर्थों पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों का विवाद हुआ और दोनों स्थानों पर श्वेताम्बरों का अधिकार हो गया तो आगे कोई झगड़ा न होने देने के लिए श्वेताम्बर संघ ने निश्चय किया कि अब से जो नई प्रतिमायें बनवाई जायँ, उनके पादमूल में वस्त्र का चिह्न बना दिया जाय। उस समय से दिगम्बरियों ने भी अपनी प्रतिमाओं को स्पष्ट नग्न बनाना शुरू कर दिया। इससे मालूम होता है कि उक्त विवाद के पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों की प्रतिमाओं में कोई भेद नहीं था, दोनों एकत्र होकर पूजा-उपासना करते थे। इतना ही नहीं, उस समय एक ही मन्दिर में इन्द्रमाला की बोली बोली जाती थी, जिसे दोनों सम्प्रदाय के लोग पैसा देकर खरीदते थे।

तपागच्छ के श्वेताम्बर मुनि शीलविजय जी ने वि० सं० १७३१-३२ में दक्षिण की यात्रा करते हुए अपनी तीर्थमाला में जैनबद्री, मूडबिद्री, कारकल आदि दिगम्बरीय तीर्थों का परिचय दिया है। इससे मालूम होता है कि उन्होंने इन तीर्थों की भक्तिभाव से वन्दना की थी। अकबर के समकालीन श्वेताम्बर विद्वान् हीरविजय सूरि ने भी मथुरा से लौटते हुए ग्वालियर की बावनगजी दिगम्बर मूर्ति के दर्शन किए थे। इससे मालूम होता है कि अभी थोड़े वर्ष पहले तक दिगम्बर और श्वेताम्बर एक दूसरे के मन्दिरों में आते-जाते थे, और वे साम्प्रदायिक व्यामोह से मुक्त थे।

अष्टापद (कैलास), चम्पा, पावा, सम्मेदशिखर, ऊर्जयन्त (गिरनार) और शत्रुंजय आदि तीर्थ सर्वमान्य तीर्थ समझे जाते हैं, और इन क्षेत्रों को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समान रूप से पूजते आए हैं, इससे पता लगता है कि दोनों के तीर्थ-स्थान एक थे। लेकिन आगे चल कर दोनों सम्प्रदायों ने अपने अपने तीर्थों का निर्माण आरम्भ कर दिया, बहुत से नये तीर्थों की स्था-

पना हो गई, और नौबत यहाँ तक पहुँची कि एक दूसरे के तीर्थों पर जबर्दस्ती अधिकार किया जाने लगा और लाखो रुपया पानी की तरह बहाकर लन्दन की प्रिवी कौंसिल से फैसलो की आशा की जाने लगी।

दुर्भाग्य से जैनो के अनेक प्राचीन तीर्थ स्थानो का पता नहीं चलता। इसके सिवाय अष्टापद, श्रावस्ति, मिथिला, पुरिमताल, भद्रिलपुर, कौशाम्बी अहिच्छत्रा, पुरी, तक्षशिला, वीतिभयपत्तन, द्वारिका आदि अनेक तीर्थ विच्छिन्न हो गये हैं और जैन यात्री प्राय. आजकल इन तीर्थो की यात्रा नहीं करते। इसी तरह गजपथा, ऊन आदि तीर्थों का दिगम्बर भट्टारको और धनिको ने नवनिर्माण कर डाला है। इन सब बातो का गवेषणापूर्ण अध्ययन होना चाहिए, उसी समय जैन तीर्थों का ठीक-ठीक इतिहास लिखा जा सकता है।

यद्यपि जैन सूत्रो मे पारस (ईरान), जोणग (यवन), चिलात (किरात), अलसण्ड (एलेक्जेण्ड्रिया) आदि कतिपय अनार्य देशो का उल्लेख आता है, लेकिन मालूम होता है कि आचार-विचार और भक्ष्याभक्ष्य के नियमो की कडाई के कारण बौद्ध श्रमणो की नाईं जैन श्रमण भारत के बाहर धर्मप्रचार के लिए नहीं जा सके। निशीथचूर्णि में आचार्य कालक के पारस देश मे जाने का उल्लेख अवश्य आता है, लेकिन वे धर्म-प्रचार के लिए न जाकर वहाँ उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल से बदला देने के लिए गए थे।

२८, शिवाजी पार्क, बम्बई २८ — *जगदीशचन्द्र जैन*

१

## पार्श्वनाथ और उनके शिष्यों का विहार

पहले भगवान् महावीर को जैन धर्म का संस्थापक माना जाता था, लेकिन अब विद्वानों की खोज से यह प्रमाणित हो गया है कि महावीर के पूर्व भी जैन धर्म विद्यमान था।

यद्यपि बौद्ध त्रिपिटकों में भगवान् पार्श्वनाथ का उल्लेख नहीं आता, लेकिन उनके चातुर्याम संवर का उल्लेख पाया जाता है। जैन शास्त्रों के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी* ( बनारस ) में हुआ था। उनकी माता का नाम वामा और पिता का नाम अश्वसेन था। पार्श्वनाथ ३० वर्ष तक गृहस्थ अवस्था में रहे, ७० वर्ष तक उन्होंने साधु जीवन व्यतीत किया, और १०० वर्ष की अवस्था में सम्मेदशिखर ( पारसनाथ हिल, हजारीबाग ) पर तप करने के पश्चात् निर्वाण पद पाया।

पार्श्वनाथ पुरुषश्रेष्ठ ( पुरिसादानीय ) कहे जाते थे। उनके आठ प्रधान शिष्य ( गणधर ) थे और उन्होंने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं के चतुर्विध संघ की स्थापना की थी। पार्श्वनाथ ने अपने साधु जीवन में साकेत, श्रावस्ति, कौशाम्बी, राजगृह, आमलकप्पा, कांपिल्यपुर, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर आदि स्थानों में विहार किया था।

पार्श्वनाथ के श्रमण पार्श्वापत्य ( पासावच्चिज्ज ) नाम से पुकारे जाते थे। आचारांग सूत्र में महावीर के माता-पिता को पार्श्वनाथ की परम्परा का

---

* इस पुस्तक में उल्लिखित तीर्थ स्थानों के विशेष विवरण और उनकी पहचान के हवालों के लिये देखिये लेखक की 'लाइफ इन ऐंशियेंट इन्डिया ऐज डिपिक्टेड इन द जैन कैनन्स' नामक पुस्तक का पाँचवाँ भाग।

अनुयायी कहा गया है। आवश्यकचूर्णि में पार्श्वनाथ के अनेक श्रमणों का उल्लेख मिलता है जो महावीर की साधु जीवन की चारिका के समय मौजूद थे। उदाहरण के लिये, उत्पल श्रमण ने पार्श्वनाथ की श्रमण परम्परा में दीक्षा ली थी, लेकिन बाद मे उन्होने दीक्षा छोड़ दी और अट्ठियगाम में ज्योतिषी बनकर रहने लगे। सोमा और जयन्ती उत्पल की दो बहिनें थी। इन्होने भी पार्श्वनाथ की दीक्षा छोडकर परिव्राजिकाओं की दीक्षा ले ली थी।

पार्श्वनाथ के दूसरे श्रमण स्थविर मुनिचन्द्र थे। ये बहुश्रुत स्थविर अपने शिष्य परिवार के साथ कुमाराय सनिवेश में किसी कुम्हार की शाला में रहते थे। एक बार मखलिपुत्र गोशाल जब महावीर के साथ विहार कर रहे थे तो वे स्थविर मुनिचन्द्र के पास आये और उन्हे आरम्भ तथा परिग्रह सहित देखकर उन्होने प्रश्न किया कि आप लोग सारभ और सपरिग्रह होकर भी श्रमण निर्ग्रंथ कैसे कहे जा सकते हैं ? बात यहाँ तक बढ गई कि गोशाल ने उनके निवास-स्थान ( प्रतिश्रय ) को जला देने की धमकी दी। लेकिन महावीर ने गाशाल को समझाया कि वे लोग पार्श्वनाथ के अनुयायी स्थविर साधु हैं, अतएव उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इन स्थविरों के आचार-विचार के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये अन्त मे जिनकल्प धारण करते थे, तथा तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल नामक पॉच भावनाओं से सयुक्त होकर उपाश्रय मे, उपाश्रय के बाहर, चौराहों पर, शून्यगृहों मे और श्मशानो मे रहकर तप करते थे।

भगवती सूत्र मे वाणियगाम निवासी श्रमण गागेय का उल्लेख आता है, जिन्होंने पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म त्याग कर महावीर के पॉच महाव्रत स्वीकार किये। उक्त सूत्र मे तुगिय नगरी को पार्श्वनाथ के स्थविरों का केन्द्र-स्थान बताते हुए वहाँ ५०० स्थविरों के विहार करने का उल्लेख है। इन स्थविरों मे कालियपुत्र, मेहिल, आनन्दरक्खिय और कासव के नाम मुख्य हैं।

सूत्रकृताग मे पार्श्वनाथ के अनुयायी मेदार्य गोत्रीय उदक पेढालपुत्त का नाम आता है। महावीर के प्रधान शिष्य गौतम इन्द्रभूति के साथ इनका वाद हुआ और अन्त मे इन्होने महावीर के पास जाकर उनके पॉच महाव्रतो को स्वीकार किया। उत्तराध्ययन सूत्र मे चतुर्दश पूर्वधारी कुमारश्रमण केशी का उल्लेख आता है। केशीकुमार अपने ५०० शिष्य-परिवार के साथ श्रावस्ति नगरी मे विहार करते थे। यहाँ पर गौतम इन्द्रभूति के साथ इनका वार्तालाप

२

# महावीर की विहार-चर्या

पार्श्वनाथ के लगभग अढाई सौ वर्ष बाद विदेह की राजधानी वैशाली (बसाढ, मुजफ्फरपुर) के उपनगर क्षत्रियकुण्डग्राम (कुण्डग्राम अथवा कुण्डपुर, आधुनिक बसुकुण्ड ) में महावीर का जन्म हुआ था। महावीर की माता का नाम त्रिशला और पिता का नाम सिद्धार्थ था। तीस वर्ष की अवस्था में महावीर ने दीक्षा ग्रहण की, बारह वर्ष तप किया और तीस वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार किया। तत्पश्चात् बहत्तर वर्ष की अवस्था में ई० पू० ५२८ के लगभग मज्झिमपावा ( पावापुरी, बिहार ) में निर्वाण लाभ किया।

## प्रथम वर्ष

महावीर वर्धमान ने मँगसिर वदी १० के दिन क्षत्रियकुण्डग्राम के बाहर ज्ञातृखण्ड नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और एक मुहूर्त दिन अवशेष रहने पर कुम्मारगाम पहुँच कर वे ध्यान में अवस्थित हो गए। दूसरे दिन महावीर कोल्लाक सन्निवेश पहुँचे और वहाँ से मोराग सन्निवेश पहुँच कर दुइज्जंत नाम के तापस आश्रम में ठहरे। एक रात ठहर कर उन्होंने यहाँ से विहार किया और आठ महीने तक घूम-फिरकर वे फिर इसी स्थान में आए। यहाँ पन्द्रह दिन रह कर महावीर अट्ठियगाम चले गए, जहाँ उन्हें शूलपाणि यक्ष ने उपसर्ग किया। यहाँ महावीर चार महीने रहे। यह उनका प्रथम चातुर्मास था।

## दूसरा वर्ष

शरद् ऋतु आने पर महावीर यहाँ से मोराग सन्निवेश गए। वहाँ से उन्होंने वाचाला की तरफ विहार किया। वाचाला दक्षिण और उत्तर भागों में विभक्त

# भ० महावीर द्वारा अवलोकित स्थान [५०० ई०पू०]

सेयविया
श्रावस्ति
गण्डकी
मिथिला
आलभिया
स्थूणाक
कोल्लाग
वैशाली
कोटिवर्ष
कुण्डलपुर
कयंगला
वाराणसी
वाणियग्राम
कौशांबी
मध्यपावा
भद्दिय
चम्पा
नालन्दा
राजगृह
ला
ढ
गोभूमि
वज्रभूमि
लोहार्गला
उन्नाव
पुरिमताल
सुसुमारपुर
सिद्धार्थपुर
शुभ्रभूमि
दृढ़भूमि
पेढालग्राम
वालुया
सुच्छेत्ता
तोसली

थी। दोनो के बीच में सुवर्णकूला और रूप्यकूला नामक नदियाँ बहती थीं। महावीर ने दक्षिण वाचाला से उत्तर वाचाला की ओर प्रस्थान किया। उत्तर वाचाला जाते हुए बीच में कनकखल नाम का आश्रम पडता था। यहाँ से महावीर सेयविया नगरी पहुँचे, जहाँ प्रदेशी राजा ने उनका आदर-सत्कार किया। तत्पश्चात् गगा नदी पार कर महावीर सुरभिपुर पहुँचे और वहाँ से थूणाक सनिवेश पहुँच कर ध्यान में अवस्थित हो गए। यहाँ से महावीर राजगृह गए और उसके बाद नालन्दा के बाहर किसी जुलाहे की शाला मे ध्यानावस्थित हो गए। सयोगवश मखलिपुत्र गोशाल भी उस समय यहीं ठहरा हुआ था। महावीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर वह उनका शिष्य बन गया। यहाँ से चल कर दोनो कोल्लाग सनिवेश पहुँचे। महावीर ने यहाँ दूसरा चातुर्मास बिताया।

## तीसरा वर्ष

तत्पश्चात् महावीर और गोशाल सुवन्नखलय पहुँचे। यहाँ से ब्राह्मणग्राम गये। यहाँ नन्द और उपनन्द नामक दो भाई रहते थे, और दोना के अलग अलग मोहल्ले थे। गुरु-शिष्य यहाँ से चलकर चपा पहुँचे। भगवान् ने यहाँ तीसरा चातुर्मास व्यतीत किया।

## चौथा वर्ष

तत्पश्चात् दोनों कालाय सनिवेश जाकर एक शून्यगृह मे ठहरे। वहाँ से पत्तकालय गये, और वहाँ से कुमाराय सनिवेश जाकर चपरमणिज नामक उद्यान में ध्यानावस्थित हो गये। यहाँ पार्श्वापत्य स्थविर मुनिचन्द्र ठहरे हुए थे, जिनके विषय में ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ से चलकर दोनों चोराग सनिवेश पहुँचे, लेकिन यहाँ गुप्तचर समझकर दोनो पकड़ लिये गये। यहाँ से दोनो ने पृष्ठचपा के लिए प्रस्थान किया। महावीर ने यहाँ चौथा चौमासा बिताया।

## पाँचवाँ वर्ष

पारणा के बाद महावीर और गोशाल यहाँ से कयगला के लिए रवाना हुए। वहाँ से श्रावस्ति पहुँचे, फिर हलेद्दय गये। फिर दोनों नङ्गलाग्राम पहुँच

कर वासुदेव के मन्दिर मे ध्यान मे लीन हो गये। तत्पश्चात् दोनों आवत्ता-ग्राम जाकर बलदेव मन्दिर में ठहरे। यहाँ से दोनो चोराय सनिवेश पहुँचे, फिर कलबुक सनिवेश आये। यहाँ दोनो कैद कर लिए गये। तत्पश्चात् गुरु-शिष्य लाढ देश की ओर चले। लाढ देश वज्जभूमि और सुब्भभूमि नामक दो भागो मे विभक्त था। इस देश में गाँवो की सख्या बहुत कम थी, और बहुत दूर चलने पर भी वसति (निवास स्थान) मिलना कठिन होता था। यहाँ के निवासी रुक्ष भोजन करने के कारण प्रकृति से क्रोधी होते थे। ये लोग साधुओ से द्वेष करते थे, उन्हे कुत्तो से कटवाते थे, और उन पर दण्ड आदि से प्रहार करते थे। ये लोग यतियो को ऊपर से उठाकर नीचे पटक देते, तथा उनके गोदोहन, उँकडू और वीर आदि आसनो से गिराकर उन्हे मारते थे। कपास आदि क अभाव मे यहाँ के लोग तृण ओढते थे। लाढ देश मे महावीर और गोशाल ने अनेक प्रकार के कष्ट सहनकर छह मास विहार किया। इस देश मे बौद्ध साधु कुत्तो के उपद्रव से बचने के लिए अपनी देह के बराबर चार अगुल मोटी लाठी लेकर चलते थे, लेकिन महावीर ने यहाँ बिना किसी लाठी आदि के भ्रमण किया। तत्पश्चात् दोनो पुन्नकलस होते हुए भद्दिय नगरी लौट आये। महावीर ने यहाँ पाँचवाँ चातुर्मास बिताया।

## छठा वर्ष

तत्पश्चात् दोनो कदलीग्राम, जबूसड और तबाय सनिवेश होते हुए कूविय सनिवेश पहुँचे। यहाँ इन्हे गुप्तचर समझ कर पकड लिया गया। उसके बाद दोनो वैशाली आये। यहाँ आकर गोशाल ने महावीर से कहा कि जब मुझ पर कोई आपत्ति आती है तो आप मेरी सहायता नहीं करते। यह कह कर गोशाल महावीर का साथ छोडकर चला गया। महावीर वैशाली से गामाय सनिवेश होते हुए सालिसीसय ग्राम पहुँचे। यहाँ उन्हे कटपूतना व्यतरी ने अनेक कष्ट दिए। कुछ समय बाद गोशाल फिर महावीर के पास आ गया। दोनो भद्दिय पहुँचे। महावीर ने यहाँ छठा वर्षावास व्यतीत किया।

## सातवाँ वर्ष

तत्पश्चात् गुरु-शिष्य ने मगध देश मे विहार किया। यहाँ आलभिया नगरी मे महावीर ने सातवाँ वर्षावास व्यतीत किया।

## आठवाँ वर्ष

इसके बाद दोनों कुडाग सनिवेश जाकर वासुदेव के मन्दिर में ध्यान में अवस्थित हो गये। वहाँ से मद्दणा ग्राम पहुँचकर बलदेव के मन्दिर में ठहरे। वहाँ से बहुमालग ग्राम पहुँचे यहाँ मालजा व्यन्तरी ने उपसर्ग किया। तत्पश्चात् दोनों ने लोहग्गल राजधानी की ओर प्रस्थान किया। यहाँ उन्हें राज-पुरुषों ने गुप्तचर समझकर पकड लिया। यहाँ से दोनो पुरिमताल पहुँचे और शकटमुख उद्यान में ध्यानावस्थित हो गये। यहाँ से दोनो ने उन्नाट की ओर प्रस्थान किया, और वहाँ से गोभूमि पहुँचे। तत्पश्चात् दोनों राजगृह आये। यहाँ महावीर ने आठवाँ चातुर्मास व्यतीत किया।

## नौवाँ वर्ष

गोशाल को साथ लेकर महावीर ने फिर से लाढ देश की यात्रा की, और यहाँ वज्रभूमि और सुब्भभूमि मे विचरण किया। अब की बार महावीर यहाँ छह महीने तक रहे और उन्होंने अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हुए यहीं चातुर्मास व्यतीत किया।

## दसवाँ वर्ष

तत्पश्चात् महावीर और गोशाल सिद्धत्थपुर आये। यहाँ से दोनो जब कुम्मगाम जा रहे थे तो जगल में एक तिल के पौधे को देखकर गोशाल ने प्रश्न किया कि वह पौधा नष्ट हो जायगा या नहीं ? महावीर ने उत्तर दिया कि पौधा नष्ट हो जायगा, लेकिन उसका बीज फिर पौधे के रूप में परिणत होगा। कुम्मगाम में वैश्यायन नामक बाल तपस्वी को तप करते देखकर गोशाल ने पूछा—"तुम मुनि हो या जूओं की शय्या ?"

इस पर वैश्यायन ने क्रुद्ध होकर गोशाल पर तेजोलेश्या छोडी। महावीर ने शीतलेश्या का प्रयोग कर गोशाल को बचाया। इसके बाद कुम्मगाम से सिद्धत्थपुर लौटते हुए महावीर के कथनानुसार जब गोशाल ने उगे हुए तिल के पौधे को देखा तो वह नियतिवादी हो गया और महावीर से अलग होकर श्रावस्ति मे किसी कुम्हार की शाला मे आकर महावीर द्वारा प्रतिपादित तेजोलेश्या की सिद्धि के लिये प्रयत्न करने लगा। महावीर ने वैशाली के लिये प्रस्थान किया और नाव से गण्डकी नदी पार कर वाणियगाम पहुँचे। वहाँ से श्रावस्ति पहुँच कर महावीर ने दसवाँ चौमासा व्यतीत किया।

## ग्यारहवाँ वर्ष

तत्पश्चात् महावीर ने सानुलट्ठियगाम की ओर प्रस्थान किया। वहाँ से वे दढभूमि गये और पेढाल उद्यान मे पोलास नामक चैत्य मे ठहरे। यहाँ बहुत से म्लेच्छ रहते थे, उन्होने महावीर को अनेक कष्ट दिये। इसके बाद वे बालुयागाम, सुभोम, सुच्छेत्ता और मलय होते हुए हत्थिसीस पहुँचे। इन स्थानो में महावीर ने अनेक उपसर्ग सहे। तत्पश्चात् महावीर ने तोमलि के लिये प्रस्थान किया। वहाँ से वे मोसलि गये, फिर लौट कर तोमलि आये। वहाँ से सिद्धत्थपुर होते हुए वयग्गाम आये। महावीर ने इस प्रदेश मे छह महीने विचरण किया। इन स्थानो मे महावीर को घोर उपसर्ग सहन करने पड़े। इसके बाद महावीर आलभिया पहुँचे, और फिर सेयविया होते हुए उन्होंने श्रावस्ति की ओर विहार किया। उस समय श्रावस्ति मे स्कन्द ( कार्त्तिकेय ) की पूजा होती थी। वहाँ से महावीर कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह और मिथिला मे विचरण करते हुए वैशाली पहुँचे और यहाँ उन्होने ग्यारहवाँ चौमासा बिताया। ( कुछ लोगो का कहना है कि यह चातुर्मास महावीर ने मिथिला मे बिताया। )

## बारहवाँ वर्ष

यहाँ से महावीर ने सुसुमारपुर के लिए प्रयाण किया। फिर भोगपुर नन्दिगाम और मेंढियगाम होते हुए कौशाम्बी पधारे। यहाँ उन्हे भ्रमण करते करते चार मास बीत गये लेकिन आहार-लाभ न हुआ। अन्त मे चम्पा के राजा दधिवाहन की पुत्री चन्दनबाला ने उन्हे आहार देकर पुण्य लाभ किया। तत्पश्चात् महावीर सुमङ्गलगाम और पालय होते हुए चम्पा पधारे और यहाँ किसी ब्राह्मण की यज्ञशाला में ठहरे। महावीर ने यहाँ बारहवाँ वर्षावास बिताया।

## तेरहवाँ वर्ष

तत्पश्चात् महावीर जभियगाम पहुँचे। वहाँ से मेंढियगाम होते हुए मज्झिमपावा आये। यहाँ से लौट कर फिर जभियगाम गये और यहाँ नगर के बाहर वियावत्त चैत्य मे ऋजुवालिका नदी के उत्तरी किनारे श्यामाक गृहपति के खेत मे शाल वृक्ष के नीचे वैशाख सुदी १० के दिन केवलज्ञान प्राप्त किया।

इसके बाद महावीर ने ३० वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार करते हुए अपने उपदेशामृत से जन-समुदाय का कल्याण करते हुए अपने सिद्धान्तो का प्रचार किया। अन्त मे वे मज्झिमपावा पधारे और यहाँ चातुर्मास व्यतीत करने के लिये हस्तिपाल नामक गणराजा के पटवारी के दफ्तर ( रज्जुगसभा ) में ठहरे। एक एक करके वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये। चौथा महीना लगभग आधा बीतने को आया। इस समय कार्तिकी अमावस्या के प्रात काल महावीर ने निर्वाण लाभ किया। महावीर के निर्वाण के समय काशी-कोशल के नौ मल्ल और नौ लिच्छवि नामक अठारह गणराजा मौजूद थे, उन्होंने इस पुण्य अवसर पर सर्वत्र दीपक जलाकर महान् उत्सव मनाया।

महावीर वर्धमान ने बिहार, बगाल और पूर्वीय उत्तरप्रदेश के जिन स्थानो को अपने विहार से पवित्र किया था, वे सब स्थान जैनो के पुनीत तीर्थ हैं। दुर्भाग्य से आज इन स्थानों में से बहुत कम स्थानों का ठीक ठीक पता लगता है, बहुत से तो पिछले अढाई हजार वर्षों में नाम शेष रह गये हैं। यदि बिहार, बङ्गाल और उत्तरप्रदेश के उक्त प्रदेशों की पैदल यात्रा की जाय तो निस्सन्देह यात्रियो को अक्षय पुण्य का लाभ हो और इससे सभवत बहुत से अज्ञात पवित्र स्थानों का पता चल जाय।

---

| जनपद | | राजधानी |
|---|---|---|
| १ | मगध | राजगृह |
| २ | अङ्ग | चम्पा |
| ३ | वङ्ग | ताम्रलिप्ति |
| ४ | कलिङ्ग | काचनपुर |
| ५ | काशी | वाराणसी |
| ६ | कोशल | साकेत |
| ७ | कुरु | गजपुर |
| ८ | कुशावर्त्त | शोरिपुर |
| ९ | पाञ्चाल | काम्पिल्यपुर |
| १० | जाङ्गल | अहिच्छत्रा |
| ११ | सौराष्ट्र | द्वारवती |
| १२ | विदेह | मिथिला |
| १३ | वत्स | कौशाम्बी |
| १४ | शाण्डिल्य | नन्दिपुर |
| १५ | मलय | भद्रिलपुर |
| १६ | मत्स्य | वैराट |
| १७ | वरणा | अच्छा |
| १८ | दशार्ण | मृत्तिकावती |
| १९ | चेदि | शुक्तिमती |
| २० | सिन्धु-सोवीर | वीतिभय |
| २१ | शूरसेन | मथुरा |
| २२ | भंगि | पापा |
| २३ | वट्टा ( ? ) | मासपुरी ( ? ) |
| २४ | कुणाल | श्रावस्ति |
| २५ | लाढ | कोटिवर्ष |
| २५½ | केकयी अर्ध | श्वेतिका |

कल्पसूत्र मे उल्लिखित स्थविरावलि मे जो जैन श्रमणो के निम्नलिखित गण, शाखा और कुला का उल्लेख मिलता है, उससे भी पता चलता है कि

मथुरा के शिलालेखों में भी ये ही गण, शाखायें और कुल उत्कीर्ण हैं।

दुर्भाग्य से इनमें अधिकतर नामों का ठीक ठीक पता नहीं चलता, किन्तु जिनका पता चलता है उससे स्पष्ट है कि जैन श्रमणों ने ईसवी सन के पूर्व ताम्रलिप्ति, कोटिवर्ष, पाण्डुवर्धन, कौशाम्बी, शुक्तिमती, उदुम्बर, मासपुरी (?), चम्पा, काकन्दी, मिथिला, श्रावस्ति, अन्तरञ्जिया, कोमिल्ला, उच्चानागरी, मध्यमिका और ब्रह्मद्वीप आदि स्थानों में विहार कर इन प्रदेशों को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाया था। इन सब क्षेत्रों को जैनधर्म के पुनीत तीर्थ मानना चाहिए।

## ४

# विहार-नैपाल-उड़ीसा-बंगाल-बरमा

### १—विहार

ईसा के पूर्व चौथी शताब्दि से लेकर ईसवी सन की पाँचवीं शताब्दि तक विहार एक समृद्धिशाली प्रदेश था और उस समय यहाँ का कला-कौशल उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ था। यहाँ के शासकों ने जगह-जगह सड़कें बनवाई थीं, तथा जावा, बालि आदि सुदूरवर्ती द्वीपों में जहाजों के बेड़े भेजकर इन द्वीपों को बसाया था।

विहार प्रान्त में जो प्राचीन खण्डहर और मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं उनसे पता चलता है कि यह स्थान ईसा के पूर्व छठी शताब्दि में बौद्ध तथा जैनों का बड़ा भारी केन्द्र था। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये यहाँ से लङ्का, चीन, तिब्बत आदि सुदूर स्थानों में उपदेशक भेजे थे।

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में **मगध** देश (दक्षिण विहार) की गणना प्राचीन १६ जनपदों* में की गई है। यह देश पूर्व दिशा का पुनीत तीर्थ माना जाता था और यहाँ का जल पवित्र समझा जाता था। मगध की भाषा मागधी थी जिसमें महावीर और बुद्ध ने प्रवचन किया था।

---

* अङ्ग, वङ्ग, मगह, मलय, मालवय, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ, लाढ, वज्जि, मोलि, कासी, कोसल, अवाह, सम्भुत्तर (सुम्होत्तर)—भगवती १५। तुलना करो—अग, मगध, कासी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति, वस, कुरु, पचाल, मच्छ, सूरसेन, अस्सक, अवन्ति, गधार, कम्बोज—अगुत्तर निकाय १, पृ २१३.

मगध का दूसरा नाम कीकट था। ब्राह्मण ग्रन्थों में मगध को पापभूमि बताते हुए वहाँ गमन करना निषिद्ध माना गया है। इस पर १८वीं सदी के एक जैन यात्री ने व्यंगपूर्वक लिखा है—यह कितने आश्चर्य की बात है कि यदि काशी में एक कौवा भी मर जाय तो वह सीधे मोक्ष में पहुँच जाता है, लेकिन यदि कोई मनुष्य मगधभूमि में मरे तो वह गधे की योनि में पैदा होता है! जैन ग्रन्थों में मगधवासियों की बहुत प्रशंसा की है और कहा है कि वहाँ के लोग संकेत मात्र से बात को समझ जाते हैं।

शिशुनागवंशी सम्राट् बिंबिसार (श्रेणिक) मगध में राज्य करता था। कूणिक (अजातशत्रु, मृत्युकाल ५२५ ई पू ), अभयकुमार और मेघकुमार आदि उसके अनेक पुत्र थे।

मगध की राजधानी राजगृह (राजगिर) थी। राजगृह की गणना भारत की दस राजधानियों में की गई है।* मगध देश का मुख्य नगर होने से राजगृह को मगधपुर भी कहा जाता था। जैन ग्रन्थों में इसे क्षितिप्रतिष्ठित, चणकपुर, ऋषभपुर और कुशाग्रपुर नाम से भी कहा गया है। कहा जाता है कि कुशाग्रपुर में प्रायः आग लग जाया करती थी, अतएव मगध के राजा बिम्बिसार ने उसके स्थान पर राजगृह नगर बसाया।

महाभारत के अनुसार, राजगृह में राजा जरासंध राज्य करता था। यहाँ से महावीर के अनेक शिष्यों का मोक्ष-गमन बताया जाता है। राजगृह प्रभास गणधर और दशवैकालिक के कर्त्ता शय्यंभव का जन्मस्थान था। महावीर को केवलज्ञान होने के सोलह वर्ष पश्चात् यहाँ दूसरे निह्नव की स्थापना हुई थी।

पाँच पहाड़ियों से घिरे रहने के कारण राजगृह को गिरिव्रज भी कहा जाता था। इन पाँच पहाड़ियों के नाम हैं—विपुल, रत्न, उदय, स्वर्ण और वैभार। ये पहाड़ियाँ आजकल भी राजगृह में मौजूद हैं और जैनों द्वारा पवित्र मानी जाती हैं। इनमें वैभार और विपुल गिरि का जैन ग्रन्थों में विशेष महत्व बताया

---

* चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, साकेत, कांपिल्य, कौशाम्बी, मिथिला, हस्तिनापुर, राजगृह—स्थानांग १० ७१७, निशीथ सूत्र ६.१६। तुलना करो—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ति, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी—दीघनिकाय, महासुदस्सन सुत्त।

गया है। वैभार का वर्णन करते हुए कहा है कि यह पहाड़ी बहुत चित्ताकर्षक थी, अनेक वृक्ष और लताओं से मंडित थी, नाना प्रकार के फल-फूल यहाँ खिलते थे, और नगरवासी यहाँ क्रीड़ा के लिए जाते थ। विपुलाचल से अनेक जैन मुनियो के मोक्ष-गमन का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्था मे पता लगता है कि विपुलाचल सब पहाड़ियों में ऊँचा था, और यह प्राचीनवंश, वक्रक तथा सुपश्य नाम से प्रख्यात था।

वैभार पर्वत के नीचे तपोदा अथवा महातपोपतीरप्रभ नामक गरम पानी का बड़ा कुण्ड था। जैन सूत्रो मे इस कुण्ड की लम्बाई पाँच सौ धनुष बताई गई है। राजगिर में आजकल भी गरम पानी के सोत मौजूद हैं, जिन्हें तपोवन के नाम से पुकारा जाता है। सातवीं सदी के चीनी यात्री हुअन-सांग ने अपने विवरण मे इनका उल्लेख किया है।

बुद्ध और महावीर ने राजगृह मे अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। जैन ग्रन्थो के अनुसार यहाँ गुणसिल, मंडिकुच्छ, मोग्गरपाणि आदि चैत्य—मन्दिर थे। महावीर प्राय गुणसिल चैत्य में ठहरा करते थे। वर्तमान गुणावा, जो नवादा स्टेशन से लगभग तीन मील दूर है, प्राचीन गुणशिल माना जाता है।

राजगृह व्यापार का बड़ा केन्द्र था। यहाँ दूर-दूर के व्यापारी माल खरीदने आते थे। यहाँ से तक्षशिला, प्रतिष्ठान, कपिलवस्तु, कुशीनारा आदि भारत के प्रसिद्ध नगरों को जाने के मार्ग बने हुए थे। बौद्ध सूत्रों में मगध में धान के सुन्दर खेतों का उल्लेख आता है।

बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् राजगृह की अवनति होती चली गई। जब चीनी यात्री हुअन-सांग यहाँ आया तो यह नगरी अपनी शोभा खो चुकी थी। चौदहवीं सदी के विद्वान् जिनप्रभ सूरि के समय राजगृह में ३६,००० घरों के होने का उल्लेख है, जिनमें आधे घर बौद्धो के थे।

वर्तमान राजगिर, जो बिहार शरीफ से दक्षिण की ओर १३-१४ मील के फासले पर है, प्राचीन राजगृह माना जाता है।

पाटलिपुत्र (पटना) मगध देश की दूसरी राजधानी थी। पाटलिपुत्र कुसुमपुर, पुष्पपुर और पुष्पभद्र के नाम से भी पुकारा जाता था।

कहते हैं कि राजा अजातशत्रु (कूणिक) के मर जाने पर राजकुमार उदायि (मृत्यु ४६७ ई० पू०) को चम्पा में रहना अच्छा न लगा। उसने अपने

मन्त्रियों को किसी योग्य स्थान की तलाश करने भेजा, और यहाँ एक सुन्दर पाटलि का वृक्ष देखकर पाटलिपुत्र नगर बसाया। बौद्धों के महावग्ग के अनुसार, अजातशत्रु के मन्त्री सुनीध और वर्षकार ने वैशालिनिवासी वज्जियों के आक्रमण से बचने के लिए इस नगर को बसाया था।

पाटलिपुत्र की गणना सिद्धक्षेत्रों में की गई है। पाटलिपुत्र जैन साधुओं का केन्द्र था। यहाँ जैन आगमों के उद्धार के लिए जैन श्रमणों का प्रथम सम्मेलन हुआ था, जो पाटलिपुत्र-वाचना के नाम से प्रसिद्ध है। राजा उदायि ने यहाँ जैन मन्दिर बनवाया था। पाटलिपुत्र में शकटार मन्त्री के पुत्र मुनि स्थूलभद्र कोशा गणिका के घर रहे थे और उन्होंने धर्मोपदेश देकर उसे श्राविका बनाया था। इस नगर में भद्रबाहु, आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ति, वज्रस्वामी और उमास्वाति वाचक ने विहार किया था। यूनानी यात्री मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के सम्राट् अशोक के राजभवन का वर्णन किया है। फाहियान के समय ईसा की पाँचवीं शताब्दि तक यह भवन विद्यमान था।

पाटलिपुत्र गंगा के किनारे बसा था। यह नगर व्यापार का बड़ा केन्द्र था। पाटलिपुत्र और सुवर्णभूमि ( बरमा ) में व्यापार होता था। जब हुअन-सांग यहाँ आया तो यह नगर एक साधारण गाँव के रूप में विद्यमान था।

नालन्दा राजगृह के उत्तर-पूर्व में अवस्थित था। बौद्ध सूत्रों में राजगृह और नालन्दा के बीच में एक योजन का अन्तर बताया गया है। बीच में अम्बलट्ठिका नामक वन पड़ता था। प्राचीन काल में नालन्दा बड़ा समृद्धिशाली नगर था, जो अनेक भवन और बाग-बगीचों से मंडित था। भिक्षुओं को यहाँ यथेच्छ भिक्षा मिलती थी। बुद्ध, महावीर और गोशाल ने नालन्दा में विहार किया था।

नालन्दा के उत्तर-पश्चिम में सेसदविया नाम की एक प्याऊ (उदकशाला) थी, जिसके उत्तर-पश्चिम में हस्तिद्वीप नाम का उपवन था। यहाँ महावीर के प्रधान गणधर गौतम ने सूत्रकृतांग नामक जैन सूत्र के अन्तर्गत नालन्दीय नामक अध्ययन की रचना की थी।

१३वीं सदी तक नालन्दा बौद्ध विद्या का महान् केन्द्र था। चीन, जापान, तिब्बत, लङ्का आदि से विद्यार्थी यहाँ विद्याध्ययन के लिये आते थे। चीनी यात्री हुअन-सांग ने यहीं रह कर विद्या पढ़ी थी। बौद्धों के यहाँ अनेक विहार थे। नालन्दा में अनेक चित्रकार और शिल्पी रहते थे। नैपाल और बरमा के

साथ इस नगर का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

राजगिर से ७ मील दूरी पर अवस्थित बडागाँव को प्राचीन नालन्दा माना जाता है।

उद्दण्डपुर अथवा दण्डपुर का उल्लेख जैनसूत्रों मे आता है। मखलिपुत्र गोशाल ने यहाँ विहार किया था। महाभारत में भी इस नगर का उल्लेख किया गया है। कहते हैं यहाँ बहुत से दण्डी साधु रहते थे, इसलिये इस स्थान का नाम दण्डपुर पडा। दण्डपुर की पहचान बिहार शरीफ से की जाती है।

तुङ्गिया नगरी में अनेक श्रमणोपासकों के रहने का उल्लेख आता है। कल्पसूत्र में तुङ्गिक नामक जैन श्रमणों के गण का उल्लेख मिलता है, इससे मालूम होता है कि यह नगर जैन श्रमणों का केन्द्र रहा होगा। १८वीं सदी के जैन यात्री बिहार शरीफ को प्राचीन तुङ्गिया मानते हैं। बिहार से ४ मील पर तुङ्गीगाम ही सम्भवत प्राचीन तुङ्गिया हो सकता है।

पावा अथवा मध्यम पावा में महावीर ने निर्वाण लाभ किया था। जभिय-गाम से लौट कर उन्होंने यहाँ महासेन उद्यान मे अन्तिम चौमासा व्यतीत किया। जम्भियगाम* और पावा के बीच बारह योजन का फासला था।

जिनप्रभ सूरि के कथनानुसार महावीर के निर्वाणपद पाने के पूर्व यह नगरी अपापा कही जाती थी, बाद में इसका नाम पापा हो गया।

दिवाली पर यहाँ बडा मेला लगता है, जिसमे जैन यात्री दूर-दूर से आते है। यहाँ जलमन्दिर मे महावीर के गणधर गौतम और सुधर्मा की पादुकाये बनी हुई हैं।

बिहार से ७ मील के फासले पर पावापुरी को प्राचीन पावा माना जाता है।

गोब्बरगाम म महावीर ने विहार किया था। महावीर के तीन गणधर

---

* जभियगाम और ऋजुवालिका नदी के विषय मे जानने के लिये देखिये मुनि न्यायविजय जी का 'जैन तीर्थो नो इतिहास', पृ ४६५-६

का यह जन्मभूमि थी। यह स्थान राजगृह और चम्पा के बीच में था।

अंग एक प्राचीन जनपद था। वस्तुत. बुद्ध के समय अंग मगध के ही अधीन था। इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों में अंग-मगध का एक साथ उल्लेख किया गया है। रामायण के अनुसार यहाँ शिवजी ने अंग ( कामदेव ) को भस्म किया था, अतएव इस स्थान का नाम अंग पड़ा। जैन ग्रन्थों में अंग का उल्लेख सिंहल, बर्बर, किरात, यवनद्वीप, आरबक, रोमक, आलसन्द और कच्छ के साथ किया गया है।

अंग देश मगध के पूर्व में था। इसकी पहचान भागलपुर ज़िले से की जाती है।

चम्पा अंग देश की राजधानी थी। जैन ग्रन्थों के अनुसार राजा दधि-वाहन यहाँ राज्य करता था। चम्पा का उल्लेख महाभारत में आता है। इसका दूसरा नाम मालिनी था। जैन सूत्रों में चम्पा की गणना सम्मेदशिखर आदि पवित्र तीर्थों में की गई है।

महावीर, बुद्ध तथा उनके शिष्यों ने चम्पा में अनेक बार विहार किया था और अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्रों का प्रतिपादन किया था। यहाँ रहकर शय्य-भव सूरि ने दशवैकालिक नामक जैन सूत्र की रचना की थी। चम्पा की गणना सिद्धक्षेत्रों में की गई है।

औपपातिक सूत्र में चम्पा का वर्णन करते हुए कहा है —

> "चम्पा नगरी अतीव समृद्धिशाली थी, प्रजा यहाँ की खुशहाल थी, सैकड़ो-हजारो हलो द्वारा यहाँ की जुताई होती थी, नगरी के आसपास अनेक गाँव थे। यह नगरी ईख, जौ, चावल आदि धान्य, तथा गाय, भैंस, मेढे आदि धन से समृद्ध थी। यहाँ सुन्दर चैत्य तथा वेश्याओं के अनेक भवन थे। नट, नर्तक, बाजीगर, पहलवान, मुष्टियुद्ध करनेवाले, कथावाचक, रास-गायक, बाँस की नोक पर खडे होकर तमाशा दिखानेवाले, चित्रपट दिखाकर भिक्षा माँगनेवाले तथा वीणा-वादक आदि लोग यहाँ रहते थे। यह नगरी बाग-बगीचे, कुएँ, तालाब, बावडी आदि से मण्डित थी।

इसके चारो ओर गहरी खाई थी। चक्र, गदा, मुसुण्ढी (एक प्रकार की गदा), शतघ्नी (तलवार अथवा भाले के समान चलाया जाने वाला यन्त्र), कपाट आदि के कारण दुष्प्रवेश थी। चारों ओर से यह परकोटे से घिरी थी। कपिशीर्षक (कगूरे), अटारी, गोपुर तथा तोरण आदि से शोभायमान थी। अनेक वणिक् तथा शिल्पी यहाँ माल बेचने आते थे। सुन्दर यहाँ की सडकें थीं, और हाथी, घोडे, रथ, पैदल तथा पालकियो के गमनागमन से शोभित थीं।"

चम्पा नगरी मे पूर्णभद्र यक्ष का एक प्राचीन चैत्य था, जहाँ महावीर ठहरा करते थे। यह चैत्य ध्वजा, छत्र और घण्टियो से मण्डित था, वेदिका से शोभित था। भूमि यहाँ की गोबर से लिपी हुई थी, गोशीर्ष चन्दन के थापे लगे हुए थे, चन्दन-कलश रक्खे हुए थे, द्वार पर तोरण बँधी थी, सुगन्धित मालाएँ लटकी हुई थीं, रङ्ग-बिरंगे सुगन्धित पुष्प बिखरे हुए थे, सर्वत्र धूप महक रही थी तथा नट, नर्तक, गायक, वादक आदि का यह निवास-स्थान था।

बौद्ध सूत्रो से पता लगता है कि चम्पा में गर्गरा नाम की एक पुष्करिणी थी। इसके किनारे सुन्दर चम्पक के वृक्ष लगे थे, जिन पर सुगधित श्वेत रङ्ग के फूल खिलते थे।

कहते हैं कि राजा श्रेणिक के मरने पर राजा कूणिक को राजगृह में रहना अच्छा न लगा, अतएव उसने चम्पक के सुन्दर वृक्षों को देख कर चम्पा नगर बसाया। राजा कूणिक का अपनी रानियों समेत भगवान् महावीर के दर्शन के लिये जाने का विस्तृत वर्णन औपपातिक सूत्र में आता है।

चम्पा व्यापार का बडा केन्द्र था। यहाँ के व्यापारी माल बेचने के लिये मिथिला, अहिच्छत्रा, सुवर्णभूमि आदि दूर-दूर स्थानों को जाते थे। चम्पा और मिथिला मे साठ योजन का अन्तर था।

भागलपुर के पास वर्तमान नाथनगर को प्राचीन चम्पा माना जाता है।

चम्पा का शाखानगर (सबर्ब) पृष्ठचम्पा था। यह चम्पा के पश्चिम मे था। महावीर ने यहाँ चातुर्मास किया था।

जैन ग्रन्थो में मन्दिर या मन्दार को पवित्र तीर्थ माना गया है। इसकी गणना सिद्धक्षेत्रा मे की जाती है। ब्राह्मण पुराणों मे भी मन्दार का उल्लेख आता है।

इसकी पहचान भागलपुर से दक्षिण की ओर तीस मील की दूरी परम दार-

गिरि से की जाती है। पहाडी के ऊपर शीतल जल के कुण्ड हैं।

जैन सूत्रो के अनुसार काकन्दी मे बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। काकन्दिया जैन श्रमणो की शाखा थी। महावीर ने इस नगरी मे विहार किया था।
मुगेर जिले के काकन नामक स्थान को प्राचीन काकन्दी माना जाता है। कुछ लोग गोरखपुर जिले के अन्तर्गत खखुदो ग्राम को काकन्दी मानते हैं।

भद्दिय में बुद्ध और महावीर ने विहार किया था। बौद्ध सूत्रो के अनुसार भद्दिय अग देश मे था। इसकी पहचान मुगेर से की जाती है। मुगेर का प्राचीन नाम मुग्गलगिरि था।

गया के दक्षिण में **मलय** नाम का जनपद था। यह वस्त्र के लिये प्रसिद्ध था।

भद्रिलपुर मलय की राजधानी थी। भद्रिलपुर की गणना अतिशय क्षेत्रों में की गई है।
भद्रिलपुर की पहचान हजारीबाग जिले के भदिया नामक गॉव से की जाती है। यह स्थान हटरगज से ६ मील की दूरी पर कुलुहा पहाड़ी के पास है। यहॉ अनेक खडित जिन मूर्तियॉ मिली हैं। यह तीर्थ विच्छिन्न है। आश्चर्य है कि जैन लोगों ने इसे तीर्थ मानना छोड दिया है।

हजारीबाग जिले का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान सम्मेदशिखर है। इसे समाधिगिरि, समिदगिरि, मल्लपर्वत, अथवा शिखर भी कहा जाता है। सम्मेदशिखर की गणना शत्रुजय, गिरनार, आबू और अष्टापद नामक तीर्थों के साथ की गई है। यहॉ से जैनों के २४ तीर्थकरो मे से २० तीर्थकरो का निर्वाण हुआ माना जाता है।
सम्मेदशिखर की पहचान वर्तमान पारसनाथ हिल से की जाती है। यह पहाडी ईसरी स्टेशन से दो मील की दूरी पर है।

मलय देश के आसपास का प्रदेश **भंगि** जनपद कहलाता था। इस जनपद

में हजारीबाग और मानभूम जिले गर्भित होते हैं।

पावा भगि जनपद की राजधानी थी। मल्लो की पावा से यह भिन्न है।

कयगला का उल्लेख जैन और बौद्ध सूत्रों में मिलता है। महावीर और बुद्ध ने यहाँ विहार किया था, बुद्ध यहाँ वेलुवन में ठहरे थे। इस प्रदेश का पुराना नाम औदुम्बर था। उदबरिज्जिया नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है।

कयंगला की पहचान सथाल परगना के अतर्गत ककजोल स्थान से की जाती है।

मगध के उत्तर में **विदेह** जनपद था। ब्राह्मण ग्रन्थों में विदेह को राजा जनक की राजधानी बताया गया है। बौद्ध सूत्रों में जो वज्जियों के आठ कुल गिनाये हैं, उनमें वैशाली के लिच्छवि और मिथिला के विदेह मुख्य थे। कल्प-सूत्र मे वज्जनागरी ( वार्जनागरी=वृजिनगर की शाखा ) नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख आता है। महावीर की माता त्रिशला विदेह देश की होने से विदेहदत्ता कही जाती थी, और विदेहवासी चेलना का पुत्र कुणिक वज्जि विदेहपुत्र कहा जाता था।

विदेह व्यापार का बडा केन्द्र था। व्यापारी लोग श्रावस्ति आदि दूरवर्ती नगरों से यहाँ आते थे।

वर्तमान तिरहुत को प्राचीन विदेह माना जाता है।

मिथिला विदेह की राजधानी थी। रामायण मे मिथिला को जनकपुरी कहा गया है। बुद्ध और महावीर ने यहाँ अनेक बार विहार किया था। मैथिलिया जैन श्रमणा की शाखा थी। आर्य महागिरि यहाँ आये थे। मिथिला अकपित गणधर की जन्मभूमि थी। चौथे निह्नव की यहाँ स्थापना हुई थी।

जिनप्रभ सूरि के समय मिथिला जगइ नाम से प्रसिद्ध थी। उस समय यहाँ अनेक कदलीवन, मीठे पानी की बावडियाँ, कुएँ, तालाब और नदियाँ मौजूद थीं। नगरी के चार दरवाजो पर चार बड़े बाजार थे। यहाँ के साधारण लोग भी विविध शास्त्रो के पडित होते थे, तथा यहाँ पातालर्लिंग आदि अनेक तीर्थ मौजूद थे।

किसी समय मिथिला प्राचीन भारतीय सभ्यता तथा विद्या का केन्द्र था। ईसवी सन् की ९वी सदी मे यहाँ प्रसिद्ध विद्वान् मडन मिश्र निवास करते थे, जिनकी पत्नी ने शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ कर उन्हे पराजित किया था। यह नगरी प्रसिद्ध नैयायिक वाचस्पति मिश्र की जन्मभूमि थी, तथा मैथिल कवि विद्यापति यहाँ के राजदरबार मे रहते थे।

नेपाल की सीमा पर जनकपुर को प्राचीन मिथिला माना जाता है।

वैशाली विदेह की दूसरी महत्त्वपूर्ण राजधानी थी। वैशाली प्राचीन वज्जी गणतन्त्र की मुख्य नगरी थी। यहाँ के लोग लिच्छवि कहलाते थे। ये लोग आपस मे इकट्ठे होकर प्रत्येक विषय की चर्चा करते, और सब मिलकर राज्य का प्रबध करते थे। इन लोगों की एकता की प्रशसा बुद्ध भगवान् ने की थी। वैशाली की कन्याओं का विवाह वैशाली में ही होता था। वैशाली गडकी ( गडक ) के किनारे बसी थी। बुद्ध और महावीर ने यहाँ अनेक बार विहार किया था। वैशाली महावीर का जन्म-स्थान था, इसलिए वे वैशालीय कहे जाते थे। दीक्षा के पश्चात् उन्होंने यहाँ १२ चातुर्मास व्यतीत किये।

वैशाली मध्यदेश का सुन्दर नगर माना जाता था। बुद्ध के समय यह बहुत उन्नत दशा मे था। यहाँ अनेक उद्यान, आराम, बावडी, तालाब तथा पोखरणियाँ थी। अम्बापाली नाम की गणिका वैशाली की परम शोभा मानी जाती थी। बुद्ध ने यहाँ स्त्रियो को भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था।

जैन ग्रन्थो के अनुसार चेटक वैशाली का प्रभावशाली राजा था। उसकी बहन त्रिशला महावीर की माता थी। चेटक काशी-कोशल के अठारह गण-राजाओं का मुखिया था। राजा कूणिक और चेटक मे घोर सग्राम हुआ, जिसमे चेटक पराजित हो गया, और कूणिक ने वैशाली मे गधों का हल चलाकर उसे खेत कर डाला।

हुएन-साग के समय वैशाली उजाड़ हो चुकी थी।

मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ ग्राम को प्राचीन वैशाली माना जाता है।

वैशाली के पास कुण्डपुर नाम का नगर था। यहाँ महावीर का जन्म हुआ था। कुण्डपुर क्षत्रियकुण्डग्राम और ब्राह्मणकुण्डग्राम नामक दो मोहल्लों मे बँटा था। पहले मोहल्ले मे क्षत्रिय और दूसरे मे ब्राह्मण रहते थे। कुण्डपुर

में ज्ञातृखण्ड नाम का सुन्दर उद्यान था, जहाँ महावीर ने दीक्षा ग्रहण की थी। इस उद्यान की गणना ऊर्जयन्त और सिद्धशिला नामक पवित्र क्षेत्र के साथ की गई है।

आधुनिक बसुकुण्ड को कुण्डपुर माना जाता है।

वैशाली का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान वाणियगाम था। वैशाली और वाणियगाम के बीच गडकी नदी बहती थी। यहाँ आनन्द आदि अनेक समृद्ध जैन श्रमणोपासक रहते थे।

आधुनिक बनिया को वाणियगाम माना जाता है।

वाणियगाम के उत्तर-पूर्व में कोल्लाग था। यहाँ आनन्द श्रावक के सगे-सम्बन्धी रहते थे। दीक्षा के पश्चात् महावीर ने यहाँ प्रथम भिक्षा ग्रहण की थी।

बसाढ के उत्तर-पश्चिम में वर्तमान कोल्हुआ को कोल्लाग माना जाता है। नालन्दा के समीपवर्ती कोल्लाग से यह भिन्न है।

कोल्लाग के पास अट्ठियगाम नाम का गाँव था, इसे वर्धमान भी कहते थे। यहाँ वेगवती (गण्डकी) नाम की नदी बहती थी। शूलपाणि यक्ष का यहाँ बड़ा मन्दिर था। महावीर ने अट्ठियगाम में प्रथम चातुर्मास व्यतीत किया था।

वैशाली के पास आमलकप्पा नाम का नगर था जहाँ पार्श्वनाथ और महावीर ने विहार किया था।

## २ : नैपाल

नैपाल में जैन और बौद्ध श्रमणों ने विहार किया था। आजकल भी यहाँ बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार, पाटलिपुत्र में दुर्भिक्ष पड़ने पर भद्रबाहु, स्थूलभद्र तथा अन्य अनेक जैन आचार्यों ने यहाँ विहार किया था।

यहाँ सम्राट् अशोक के निर्माण किये हुए प्राचीन स्तूप मिले हैं। नैपाल का राजा असुवर्मा लिच्छवि वंश का था।

नैपाल की पहचान आधुनिक नैपाल राज्य से की जाती है, यह जनकपुर से १२० मील की दूरी पर है।

## ३ : उड़ीसा

कलिंग देश का नाम अग और वग के साथ आता है। वर्तमान उडीसा को कलिंग माना जाता है। उडीमा को ओड्र या उत्कल नाम से भी कहा जाता था।

जातक ग्रन्थो मे दन्तपुर, महाभारत में राजपुर, महावस्तु में सिंहपुर और जैन सूत्रो मे काचनपुर को कलिंग की राजधानी बताया है। मातवीं सदी मे कलिंगनगर भुवनेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आजतक इसी नाम से प्रख्यात है।

काञ्चनपुर मे जैन श्रमणो ने विहार किया था। यह नगर व्यापार का केन्द्र था, और यहाँ के व्यापारी लङ्का तक जाते थे।

आधुनिक भुवनेश्वर को प्राचीन काञ्चनपुर माना जाता है।

पुरी ( जगन्नाथपुरी ) उडीसा की दूसरी मुख्य नगरी थी। यह नगरी जैन और बौद्ध धर्म का केन्द्र थी। यहाँ जीवन्तस्वामी-प्रतिमा थी, और आचार्य वज्रस्वामी ने यहाँ विहार किया था। उस समय यहाँ बौद्ध राजा राज्य करता था, जैन और बौद्धो मे वैमनस्य रहता था। जैनो की मान्यता के अनुसार पुरी पहले पार्श्वनाथ का तीर्थ था। आजकल यह तीर्थ विच्छिन्न है।

पुरी व्यापार का बडा केन्द्र था, और यहाँ जलमार्ग से माल आता-जाता था। आजकल यहाँ रथयात्रा का बडा उत्सव मनाया जाता है।

भुवनेश्वर स्टेशन से लगभग चार मील पर उदयगिरि और खण्डगिरि नाम की प्राचीन पहाडियाँ हैं, जिन्हे काट-काट कर सुन्दर गुफाएँ बनाई गई हैं। इनमे लगभग सौ जैन गुफाएँ हैं जो मूर्तिकला की दृष्टि से महत्त्व की हैं। ये गुफाएँ ईसवी सन् के ५०० वर्ष पूर्व के पहले से लेकर ईसवी सन् ५०० तक की बताई जाती हैं। प्रसिद्ध हस्तिगुफा यहीं पर है जिसमे सम्राट् खारवेल ( ईसवी सन् के १६१ वर्ष पूर्व ) का शिलालेख है। सम्राट् खारवेल जैनधर्म का अनुयायी था, और उसने मगध से जिन-प्रतिमा लाकर यहाँ स्थापित की थी। उदयगिरि का प्राचीन नाम कुमारी पर्वत है, यहाँ सम्राट् खारवेल के

निर्माण किये हुए कई जिन मन्दिर हैं। उदयगिरि और खण्डगिरि अतिशय क्षेत्र माने जाते हैं।

तोसलि जैन श्रमणों का केन्द्र था। यहाँ का तोसलिक राजा जिन-प्रतिमा की देखरेख किया करता था। महावीर ने यहाँ विहार किया था, और यहाँ उन्हे अनेक कष्ट सहन करने पडे थे। तोसलि के निवासी फल-फूल के बहुत शौकीन होते थे। यहाँ नदियों के पानी से खेती होती थी, कभी वर्षा अधिक होने से फसल नष्ट हो जाती थी। ऐसे सकट के समय जैन श्रमण ताड के फल खाकर निर्वाह करते थे। तोसलि मे अनेक तालाब ( तालोदक ) थे। यहाँ की भैंसें बहुत मरखनी होती थीं, और वे अपने सींगों से मनुष्यो को मार डालतीं थीं। तोतलि आचार्य की मृत्यु भैंस के मारने से हुई थी।

तोतलि की पहचान कटक जिले के धौलि नामक गाँव से की जाती है।

शैलपुर तोसलि के अन्तर्गत था। यहाँ ऋषिपाल नामक व्यतर का बनाया हुआ ऋषितडाग* नामक एक तालाब था। इस तालाब का उल्लेख हाथी-गुफा के शिलालेखों मे मिलता है। यहाँ लोग आठ दिन तक उत्सव (सखडि) मनाते थे।

तोसलि के पास हत्थिसीम नाम का नगर था। व्यापार का यह बडा केन्द्र था। महावीर ने यहाँ विहार किया था।

## ४ : बगाल

वग अथवा बगाल की गणना भारत के प्राचीन जनपदो मे की गई है। अग और वग का उल्लेख महाभारत मे आता है।

प्राचीन काल मे वर्तमान बगाल भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता था। पूर्वीय बगाल को समतट, पश्चिमी को लाढ, उत्तरी को पुण्ड्र, तथा आसाम को कामरूप कहा जाता था। बगाल को गौड भी कहते थे। जब फाहियान

* कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्वर्गीय प्रो० डॉ० बेनीमाधव बडुआ ने इस स्थान का पता लगाया है।

और हुअन-साग यहाँ आये तो यहाँ बौद्ध धर्म फैला हुआ था। गौड देश म रेशम के कपडे अच्छे बनते थे।

जैन सूत्रो के अनुसार वग देश की राजधानी ताम्रलिप्ति थी। महाभारत में इस नगरी का उल्लेख आता है। जैन ग्रन्थो के अनुसार यहाँ विद्युच्चर मुनि ने मुक्ति पाई थी। ताम्रलिप्ति व्यापार का बडा केन्द्र था, और यहाँ जल-स्थल मार्ग से व्यापार होता था। यहाँ का कपडा बहुत अच्छा होता था। व्यापारी लोग यहाँ से जहाज मे बैठकर लका, जावा, चीन आदि देशो को जाते थे। हुअन-साग के समय यहाँ अनेक बौद्ध मठ विद्यमान थे।

रूपनारायण नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित तामलुक को प्राचीन ताम्रलिप्ति माना जाता है।

जैन सूत्रो मे लाढ अथवा राढ देश की गणना साढे पचीस आर्य देशों म की गई है। यह देश पहले अनार्य देशों में गिना जाता था, लेकिन मालूम होता है महावीर के विहार के पश्चात् यह आर्य क्षेत्र माना जाने लगा। लाढ के विषय मे पहले कहा जा चुका है। यहाँ महावीर ने अनेक कष्ट सहे थे। लाढ को सुह्म भी कहा गया है। भगवती सूत्र मे सुह्मोत्तर ( सभुत्तर—सुह्म का उत्तरी भाग ) की गणना प्राचीन १६ जनपदो मे की गई है।

लाढ वज्जभूमि ( वृज्जियो की भूमि ) और सुब्भभूमि ( सुह्म ) नामक दो प्रदेशो मे विभक्त था।

जैन सूत्रो के अनुसार कोटिवर्ष लाढ देश की राजधानी थी। कोडिवरिसिया नामक जैन श्रमणो की शाखा थी। कोटिवर्ष के राजा किरात का उल्लेख जैन सूत्रो म आता है। गुप्त-कालीन शिलालेखो मे इस नगर का उल्लेख मिलता है।

कोटिवर्ष की पहचान दीनाजपुर जिले के बानगढ नामक स्थान से की जाती है।

दढभूमि लाढ देश का एक भाग था। यहाँ अनेक म्लेच्छ बसते थे। दढभूमि की पहचान आधुनिक वालभूम से की जाती है।

भन्यकटक मे जैनों के १३ वे तीर्थंकर का दीक्षा के बाद पहला पारणा हुआ था।

इसकी पहचान बालामर ज़िले के कोपारी नामक स्थान से की जाती है।

पुरिमताल, लोहग्गला राजधानी, उन्नाट और गोभूमि का उल्लेख महावीर की विहार-चर्या में आ चुका है।

पुरिमताल की सीमा पर सालाटवी नामक चोरो का एक गाँव था।

पुरिमताल की पहचान मानभूम के पास पुरुलिया नामक स्थान से की जा सकती है। दूसरा पुरिमताल अयोध्या का शाखानगर था। कोई लोग प्रयाग को पुरिमताल कहते हैं।

लोहग्गला की पहचान छोटा नागपुर डिवीजन के उत्तर-पश्चिम में लोहरडग्गा* नामक स्थान से की जा सकती है।

उन्नाट नगर का उल्लेख महाभारत में मिलता है।

गोभूमि में अनेक गाये चरने के लिये आती थीं, इसलिये इस जगह का नाम गोभूमि रक्खा गया। इसकी पहचान आधुनिक गोमोह से की जा सकती हैं।

खब्बड अथवा दासी खब्बड नामक जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख जैन सूत्रों म मिलता है।

इसकी पहचान पश्चिमी बगाल मे मिदनापुर जिले के पास खर्वट नामक स्थान से की जाती है।

वर्धमानपुर नगर में विजयवर्धमान नामक उद्यान-स्थित मणिभद्र यक्ष के मन्दिर मे महावीर भगवान् ठहरे थे।

---

*लोहरडग्गा मुडा भाषा का शब्द है। 'रोहोर' का अर्थ है 'सूखा' और 'डा' का अर्थ है 'पानी'। इस स्थान पर पानी का एक झरना था जो बाद मे सूख गया। इस कारण इस स्थान का नाम 'लोहरडग्गा' पडा। देखिए, एस० सी० रॉय, 'द मुण्डा ऐण्ड देअर कन्ट्री', पृष्ठ १३३

वर्धमानपुर की पहचान बर्दवान से की जा सकती है।

पुण्ड्रवर्धन उत्तरी बंगाल का हिस्सा था। पुण्डवद्धणिया जैन श्रमणों की शाखा थी। यहाँ गायों को खाने के लिए पौंडे दिये जाते थे, यहाँ की गायें मक्खनी होती थीं। वरेन्द्र पुण्ड्रवर्धन का प्रमुख नगर था। हुअन-सांग ने यहाँ डिगम्बर निर्गन्थों के पाये जाने का उल्लेख किया है।

पुण्ड्रवर्धन की पहचान बोगरा जिले के महास्थान नामक प्रदेश से की जाती है। यह उत्तरापथ के पुण्ड्रवर्धन से भिन्न है।

खोमलिज्जिया ( या कोमलीया ) जैन श्रमणों की शाखा थी।

कोमला की पहचान पूर्वीय बङ्गाल में चटगाँव जिले के कोमिल्ला नामक स्थान से की जा सकती है।

## ५ : बरमा

सुवर्णभूमि ( बरमा ) में जैन श्रमणों ने विहार किया था। जैन ग्रन्थों से पता लगता है कि आचार्य कालक उज्जयिनी से सुवर्णभूमि जाकर सागरखमण से मिले। इससे पता लगता है कि जैन श्रमणों का यहाँ प्रवेश हुआ था। सुवर्णभूमि व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

# ५

# उत्तरप्रदेश

प्राचीन भारत के मध्यदेश के बहुसंख्यक जनपद आधुनिक उत्तरप्रदेश में आते हैं, इससे मालूम होता है कि प्राचीन काल में यह प्रदेश बहुत समृद्ध और उन्नत दशा में था। कौरव-पाण्डवों का निवास-स्थान कुरु देश, राम-लक्ष्मण की जन्मभूमि अयोध्या, कृष्ण महाराज के क्रीड़ास्थल मथुरा और वृन्दावन, बुद्धदेव की निर्वाणभूमि कुसीनारा, गणराजाओं के देश काशी और कोशल, मल्लों की राजधानियाँ कुसीनारा और पावा, तथा वाराणसी, प्रयाग, हरिद्वार, मथुरा, कौशांबी और सारनाथ जैसे पवित्र स्थान इसी प्रान्त की शोभा बढ़ाते हैं।

## १ : पूर्वीय उत्तर प्रदेश

**काशी** मध्यदेश का प्राचीन जनपद था। काशी के वस्त्र और चन्दन का उल्लेख बौद्ध जातकों में मिलता है। प्राचीन जैन सूत्रों में काशी और कोशल के अठारह गण राजाओं का जिक्र आता है। काशी को जीतने के लिए कोशल के राजा पसेनदि और मगध के राजा अजातशत्रु में युद्ध हुआ था, जिसमें अजातशत्रु की विजय हुई और काशी को मगध में मिला लिया गया। जैन मान्यता के अनुसार यहाँ के राजा शंख को महावीर ने दीक्षित किया था। काशी व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

आजकल की बनारस कमिश्नरी को प्राचीन काशी माना जाता है।

वाराणसी (बनारस) काशी की राजधानी थी। वरणा और असि नामक दो नदियों के बीच होने के कारण इस नगर का नाम वाराणसी पड़ा।

वाराणसी गंगा के किनारे बसी थी। इस स्थान को बुद्ध और महावीर ने

अपने विहार से पवित्र किया था। बौद्ध सूत्रों मे वाराणसी की गणना कपिल-वस्तु, बुद्धगया और कुसीनारा के साथ की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों में पूर्व मे वाराणसी, पश्चिम में प्रभास, उत्तर में केदार और दक्षिण मे श्रीपर्वत को परम तीर्थ माना गया है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भेलुपुर में पार्श्वनाथ और भदैनी में सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ था।

जिनप्रभसूरि के कथनानुसार बनारस चार भागों मे विभक्त था.—देव वाराणसी, राजधानी वाराणसी, मदन वाराणसी और विजय वाराणसी। यहाँ दन्तखात नाम का प्रसिद्ध तालाब था, तथा मणिकर्णिका घाट यहाँ के पवित्र पाँच घाटों मे गिना जाता था। मयगतीर (मृतगगातीर) नाम का यहाँ दूसरा प्रसिद्ध तालाब (ह्रद) था, जिसमे गङ्गा का बहुत-सा पानी इकट्ठा हो जाता था।

हुअन-साग के समय यहाँ अनेक बौद्ध विहार और हिन्दू मन्दिर मौजूद थे।

वाराणसी व्यापार और विद्या का केन्द्र था। यहाँ के विद्यार्थी तक्षशिला विद्याध्ययन के लिये जाते थे, तथा यहाँ शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

बनारस में आजकल भी अनेक मन्दिर, मूर्तियाँ और प्राचीन स्थान मौजूद हैं। आचार्य हेमचन्द्र के समय काशी वाराणसी का ही दूसरा नाम था।

इसिपतन बौद्धों का परम तीर्थ माना जाता है। यहाँ बुद्ध भगवान् का प्रथम धर्मोपदेश हुआ था। यहाँ की खुदाई मे प्राचीन काल के ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं। जैन ग्रंथों में इसे सिंहपुर नाम से कहा गया है। यहाँ शीतल-नाथ नामक जैन तीर्थंकर का जन्म हुआ था।

सिंहपुर की पहचान वर्तमान सारनाथ (सारङ्गनाथ) से की जाती है। यह स्थान बनारस के उत्तर मे छह मील की दूरी पर है। यहाँ एक अजायबघर और बौद्ध मन्दिर है।

चन्द्रानन चन्द्रप्रभा तीर्थंकर का जन्म-स्थान माना जाता है। १७-१८वीं सदी के जैन यात्रियों ने इसका नाम चन्द्रमाधव लिखा है। विविधतीर्थकल्प के अनुसार चन्द्रावती नगरी बनारस से अढाई योजन की दूरी पर थी।

चन्द्रानन की पहचान आधुनिक चन्द्रपुरी मे की जाती है। यह स्थान गङ्गा के किनारे है और बनारस से लगभग चौदह मील के फासले पर है।

आलभिया जैन श्रमणोपासकों का केन्द्र था। यहाँ महावीर और बुद्ध ने चातुर्मास व्यतीत किया था। गोशाल यहाँ पत्तकालय उद्यान में ठहरे थे। बौद्ध सूत्रों में इसे आलवी कहा गया है। यह स्थान श्रावस्ति और राजगृह के बीच बनारस से बारह योजन दूर था।

काशी से सटा हुआ **वत्स** जनपद था। बौद्ध सूत्रों में इसे वंश कहा गया है। वत्साधिपति उदयन का उल्लेख ब्राह्मण, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में मिलता है।

प्रयाग के इर्दगिर्द के प्रदेश को वत्स कहते हैं।

कौशाम्बी वत्स की राजधानी थी। कौशाम्बी का उल्लेख महाभारत और रामायण में आता है। कहते हैं कि हस्तिनापुर के गङ्गा से नष्ट हो जाने पर राजा परीक्षित के उत्तराधिकारियों ने कौशांबी को अपनी राजधानी बनाया। बुद्ध और महावीर ने यहाँ विहार किया था। यहाँ कुक्कुटाराम, घोसिताराम, पावरिक, अम्बवन आदि उद्यानों का उल्लेख बौद्ध सूत्रों में आता है, जहाँ भगवान् बुद्ध ठहरा करते थे। कहा जाता है कि एक बार कौशाम्बी के बौद्ध भिक्षुओं में बहुत झगड़ा हो गया, बुद्ध ने कौशांबी पहुँच कर भिक्षुओं को बहुत समझाया, परन्तु कोई फल न हुआ।

कौशांबी जैनों का अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यहाँ पद्मप्रभ तीर्थंकर का जन्म हुआ था। यहीं महावीर की प्रथम शिष्या चन्दनबाला और रानी मृगावती श्रमण धर्म में दीक्षित हुई थीं। कहते हैं कि उज्जैनी के राजा प्रद्योत ने रानी मृगावती को पाने के लिये कौशांबी के राजा शतानीक पर चढ़ाई कर दी। शतानीक की अतिसार से मृत्यु हो गई। बाद में अपने पुत्र उदयन को राजगद्दी पर बैठा कर मृगावती ने महावीर से दीक्षा ले ली।

आर्य सुहस्ति और आर्य महागिरि कौशाम्बी आये थे। बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि कौशाम्बी में बुद्ध भगवान् की रक्तचन्दन-निर्मित सुन्दर प्रतिमा थी, जिसे राजा उदयन ने अपने खास कारीगरों से बनवाया था। सम्राट् अशोक ने यहाँ बौद्ध स्तूप निर्माण कराया था।

इलाहाबाद से लगभग तीस मील की दूरी पर कोसम गाँव को प्राचीन

कोशाम्बी माना जाता है। यह तीर्थ विच्छिन्न है। यहाँ सूर्य की बड़ी भव्य सुन्दर मूर्ति है।

कौशाम्बी के पास प्रयाग था। महाभारत में इसका उल्लेख आता है। जैन ग्रन्थों में प्रयाग को तीर्थक्षेत्र माना गया है। यहाँ अर्णिकापुत्र को गङ्गा पार करते समय केवलज्ञान हुआ था। प्रयाग को दितिप्रयाग भी कहा गया है। पालि साहित्य में इसे पयागपतिट्ठान कहा है।

प्रयाग आजकल गङ्गा, जमुना और सरस्वती ( गुप्त ) के संगम पर अवस्थित है। यह ब्राह्मणों का परम धाम माना जाता है। अक्षयवट यहाँ का परम पवित्र स्थान है। प्रयाग में मुण्डन का बड़ा माहात्म्य है। बादशाह अकबर के समय से इसका नाम इलाहाबाद पड़ा।

सुप्रतिष्ठानपुर, प्रतिष्ठानपुर या पोतनपुर प्रयाग की राजधानी थी। यहाँ चन्द्रवंशी राजा राज्य करते थे। यह नगर गङ्गा के किनारे बसा था।

आजकल यह स्थान इलाहाबाद जिले में झूसी के पास है। दक्षिण के प्रतिष्ठान से यह भिन्न है।

तुङ्गिय सन्निवेश कौशाम्बी के आसपास था। मेतार्य नामक महावीर के गणधर की यह जन्मभूमि थी।

प्राचीन काल में **कोसल** ( अवध ) एक समृद्ध जनपद था। जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने यहाँ जन्म लिया था, इसलिए वे कौशलिक कहे जाते थे। अचल गणधर का यह जन्मस्थान था, और यहाँ जीवन्तस्वामी प्रतिमा विद्यमान थी। कोशल के राजा पसेनदि का उल्लेख बौद्ध सूत्रों में आता है।

साकेत ( अयोध्या ) दक्षिण कोशल की राजधानी थी। ब्राह्मण पुराणों में अयोध्या को मध्यदेश की राजधानी कहा है। यह नगर रामचन्द्र जी की जन्मभूमि थी। रामायण में अयोध्या का वर्णन करते हुए कहा है—"सरयू नदी के किनारे पर अवस्थित यह नगरी धन-धान्य से परिपूर्ण थी, सुन्दर यहाँ

मार्ग बने हुए थे, अनेक शिल्पी और देश-विदेश के व्यापारी यहाँ बसते थे। यहाँ के लोग समृद्धिशाली, धर्मात्मा, पराक्रमी और दीर्घायु थे, तथा अनेक उनके पुत्र-पौत्र थे।"

जैन परम्परा के अनुसार अयोध्या को आदि तीर्थ और आदि नगर माना गया है, और यहाँ के निवासियों को सभ्य और सुसंस्कृत बताया गया है।

बुद्ध और महावीर के समय अयोध्या को साकेत कहा जाता था। साकेत के सुभूमिभाग उद्यान में विहार करते हुए महावीर ने जैन श्रमणों के विहार की सीमा नियत की थी। यहां उन्होंने कोटिवर्ष के राजा चिलात को दीक्षा दी थी। बुद्ध ने भी साकेत में विहार किया था।

इस नगरी को कोशला, विनीता, इक्ष्वाकुभूमि, रामपुरी, विशाखा आदि नामों से भी पुकारा गया है। आजकल अयोध्या में ब्राह्मणों के अनेक तीर्थ बने हुए हैं। जिनप्रभ सूरि ने अपने विविधतीर्थकल्प में घग्घर (घाघरा) और सरयू नदी के सङ्गम पर 'स्वर्गद्वार' होने का उल्लेख किया है।

रत्नपुरी धर्मनाथ तीर्थंकर की जन्मभूमि मानी जाती है। जिनप्रभ सूरि के समय यह तीर्थ रत्नवाह नाम से पुकारा जाता था। जैन यात्रियों ने इसका रोहनाई नाम से उल्लेख किया है।

आजकल यह स्थान फैजाबाद के पास सोहावल स्टेशन से एक मील उत्तर की ओर है।

श्रावस्ति (सहेट-महेट, ज़िला गोंडा) उत्तर कोशल या कुणाल जनपद की राजधानी थी। श्रावस्ति का दूसरा नाम कुणालनगरी था। श्रावस्ति और साकेत के बीच सात योजन (१ योजन=५ मील) का अन्तर था।

श्रावस्ति अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे थी। जैन सूत्रों में कहा गया है कि इस नदी में बहुत कम पानी रहता था, इसके बहुत से प्रदेश सूखे रहते थे, और जैन साधु इस नदी को पार कर भिक्षा के लिये जा सकते थे। बौद्ध सूत्रों से पता लगता है कि इस नदी के किनारे स्नान करने के अनेक स्थान बने हुए थे। नगर की वेश्यायें यहाँ वस्त्र उतार कर स्नान करती थीं। उनकी देखादेखी बौद्ध भिक्षुणियाँ भी स्नान करने लगीं, इस पर बुद्ध ने उन्हें नग्न स्नान करने से रोका। अचिरावती में बाढ आने से लोगों का बहुत नुक़-

मान होता था। एक बार तो नगरी के सुप्रसिद्ध धनी अनाथपिंडक का सब माल-खजाना नदी में बह गया था। श्रावस्ति की बाढ़ का उल्लेख आवश्यक-चूर्णि में भी मिलता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस बाढ़ के १३ वर्ष बाद महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया।

श्रावस्ति का रामायण और जातकों में उल्लेख आता है। बुद्ध और महावीर के समय यह नगरी बहुत उन्नत दशा में थी। इन महात्माओं ने यहाँ अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। अनाथपिंडक के निर्माण किये हुए जेतवन में बुद्ध ठहरा करते थे। सूत्र और विनयपिटक के अधिकांश भाग का उन्होंने यहीं प्रवचन किया था। श्रावस्ति बौद्धों का बड़ा केन्द्र था। यहाँ के अनाथपिंडक और मृगारमाता विशाखा बुद्ध के बड़े प्रशंसक और प्रतिष्ठाता थे। आर्य स्कंद और गोशाल ने यहाँ विहार किया था। गोशाल की उपासिका हालाहला कुम्हारी यहीं रहती थी। पार्श्वनाथ के अनुयायी केशीकुमार और महावीर के अनुयायी गौतम गणधर में यहाँ सैद्धांतिक चर्चा हुई थी। महावीर को केवलज्ञान होने के १४ वर्ष पश्चात् यहाँ के कोष्ठक चैत्य में प्रथम निह्नव की स्थापना हुई।

जैन ग्रन्थों के अनुसार श्रावस्ति संभवनाथ की जन्मभूमि थी। आजकल यह तीर्थ विच्छिन्न है। बौद्ध सूत्रों के अनुसार श्रावस्ति के चार दरवाजे थे, जो उत्तरद्वार, पूर्वद्वार, दक्षिणद्वार और केवट्टद्वार के नाम से पुकारे जाते थे। विविधतीर्थकल्प में श्रावस्ति में एक मन्दिर और रक्त अशोक वृक्ष के होने का उल्लेख है। श्रावस्ति महेठि नाम से भी कही जाती थी।

जिनप्रभ सूरि के अनुसार यहाँ समुद्रवंशीय राजा राज्य करते थे। ये बुद्ध के परम उपासक थे, और बुद्ध के सन्मान में वरघोड़ा निकालते थे। श्रावस्ति में अनेक प्रकार का चावल पैदा होता था।

आजकल श्रावस्ति चारों ओर से जंगल से घिरी हुई है। यहाँ बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है जिसके दर्शन के लिये बौद्ध लोग बरमा आदि सुदूर देशों से आते हैं। यह स्थान बलरामपुर से सात कोस की दूरी पर है और एक मील तक फैला हुआ है।

श्रावस्ति से पूर्व की ओर केकय जनपद था, जो उत्तर के केकय से भिन्न है। जैन सूत्रों में केकय के आधे भाग को आर्यक्षेत्र माना गया है, इससे पता

चलता है कि इसके थोड़े से भाग मे ही जैनधर्म का प्रसार हुआ था, सम्भवत अवशिष्ट भाग मे जङ्गली जातियाँ बसती हो।

केकय देश श्रावस्ति के उत्तर-पूर्व मे नैपाल की तराई मे अवस्थित था।

सयविया (श्वेतिका) केकय की राजधानी थी। बौद्ध सूत्रो मे इसका नाम सतव्या बताया गया है, यह नगरी कोशल देश मे थी। जैन परम्परा के अनुसार यहाँ महावीर के केवलज्ञान होने के २१४ वर्ष बाद तीसरे निह्नव की स्थापना हुई।

बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण कपिलवस्तु को बौद्ध ग्रन्थों मे महानगर बताया गया है। शाक्यों की यह राजधानी थी। इसके पास रोहिणी नदी बहती थी, जो शाक्य और कोलियों के बीच की सीमा थी। चीनी यात्री फाहियान के समय यह नगर उजाड़ पड़ा था।

कपिलवस्तु की पहचान नैपाल की तराई मे रुम्मिनदेई नामक स्थान से की जाती है। यह स्थान घने जङ्गलो मे आच्छादित है।

कुसीनारा बुद्ध की परिनिर्वाण भूमि होने से पवित्र स्थान माना जाता है। यह नगरी मल्लो की राजधानी थी, इसका पुराना नाम कुसावती था। सम्राट् अशोक ने यहाँ अनेक स्तूप और विहार बनवाये थे। हुअन-साग ने इस तीर्थ के दर्शन किये थे।

कुसीनारा की पहचान गोरखपुर जिले के कसया नामक ग्राम से की जाती है।

कुसीनारा के पास पावा नगरी थी। यह मल्लो की राजधानी थी। कुसीनारा और पावा के बीच ककुत्था नदी बहती थी।

पावा की पहचान गोरखपुर जिले के पडरौना नामक स्थान से की जाती है।

गोरखपुर जिले म दूसरा स्थान खुखुन्दो है। इसका प्राचीन नाम किष्किन्धापुर बताया जाता है। जैन यात्री यहाँ यात्रा करने आते हैं। यहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति को लोग नाथ कह कर उसकी पूजा करते है। यह स्थान गोरखपुर के पूर्व में लगभग २५ कोस पर है।

मान होता था। एक बार तो नगरी के सुप्रसिद्ध धनी अनाथपिंडक का सब माल-खजाना नदी में बह गया था। श्रावस्ति की बाढ का उल्लेख आवश्यकचूर्णि में भी मिलता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार इस बाढ के १३ वर्ष बाद महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया।

श्रावस्ति का रामायण और जातकों में उल्लेख आता है। बुद्ध और महावीर के समय यह नगरी बहुत उन्नत दशा में थी। इन महात्माओं ने यहाँ अनेक चातुर्मास व्यतीत किये थे। अनाथपिंडक के निर्माण किये हुए जेतवन में बुद्ध ठहरा करते थे। सूत्र और विनयपिटक के अधिकांश भाग का उन्होंने यहीं प्रवचन किया था। श्रावस्ति बौद्धों का बडा केन्द्र था। यहाँ के अनाथपिंडक और मृगारमाता विशाखा बुद्ध के बडे प्रशंसक और प्रतिष्ठाता थे। आर्य स्कंद और गोशाल ने यहाँ विहार किया था। गोशाल की उपासिका हालाहला कुम्हारी यहीं रहती थी। पार्श्वनाथ के अनुयायी केशीकुमार और महावीर के अनुयायी गोतम गणधर में यहाँ सैद्धांतिक चर्चा हुई थी। महावीर को केवलज्ञान होने के १४ वर्ष पश्चात् यहाँ के कोष्ठक चैत्य में प्रथम निह्नव की स्थापना हुई।

जैन ग्रन्थों के अनुसार श्रावस्ति संभवनाथ की जन्मभूमि थी। आजकल यह तीर्थ विच्छिन्न है। बौद्ध सूत्रों के अनुसार श्रावस्ति के चार दरवाजे थे, जो उत्तरद्वार, पूर्वद्वार, दक्षिणद्वार और केवट्टद्वार के नाम से पुकारे जाते थे। विविधतीर्थकल्प में श्रावस्ति में एक मन्दिर और रक्त अशोक वृक्ष के होने का उल्लेख है। श्रावस्ति महेठि नाम से भी कही जाती थी।

जिनप्रभ सूरि के अनुसार यहाँ समुद्रवंशीय राजा राज्य करते थे। ये बुद्ध के परम उपासक थे, और बुद्ध के सन्मान में वरघोडा निकालते थे। श्रावस्ति में अनेक प्रकार का चावल पैदा होता था।

आजकल श्रावस्ति चारों ओर से जंगल से घिरी हुई है। यहाँ बुद्ध की एक विशाल मूर्ति है जिसके दर्शन के लिये बौद्ध लोग बर्मा आदि सुदूर देशों से आते हैं। यह स्थान बलरामपुर से सात कोस की दूरी पर है और एक मील तक फैला हुआ है।

श्रावस्ति से पूर्व की ओर **केकय** जनपद था, जो उत्तर के केकय से भिन्न है। जैन सूत्रों में केकय के आधे भाग को आर्यक्षेत्र माना गया है, इससे पता

चलता है कि इसके थोड़े से भाग में ही जैनधर्म का प्रसार हुआ था, सम्भवत अवशिष्ट भाग में जङ्गली जातियाँ बसती हों।

केकय देश श्रावस्ति के उत्तर-पूर्व में नैपाल की तराई में अवस्थित था।

सेयविया (श्वेतिका) केकय की राजधानी थी। बौद्ध सूत्रों में इसका नाम सतव्या बताया गया है, यह नगरी कोशल देश में थी। जैन परम्परा के अनुसार यहाँ महावीर के केवलज्ञान होने के २१४ वर्ष बाद तीसरे निह्नव की स्थापना हुई।

बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण कपिलवस्तु को बौद्ध ग्रन्थों में महानगर बताया गया है। शाक्यों की यह राजधानी थी। इसके पास रोहिणी नदी बहती थी, जो शाक्य और कोलियों के बीच की सीमा थी। चीनी यात्री फाहियान के समय यह नगर उजाड़ पड़ा था।

कपिलवस्तु की पहचान नैपाल की तराई में रुम्मिनदेई नामक स्थान से की जाती है। यह स्थान घने जङ्गलों से आच्छादित है।

कुसीनारा बुद्ध की परिनिर्वाण भूमि होने से पवित्र स्थान माना जाता है। यह नगरी मल्लों की राजधानी थी, इसका पुराना नाम कुसावती था। सम्राट् अशोक ने यहाँ अनेक स्तूप और विहार बनवाये थे। हुअन-सांग ने इस तीर्थ के दर्शन किये थे।

कुसीनारा की पहचान गोरखपुर जिले के कसया नामक ग्राम से की जाती है।

कुसीनारा के पास पावा नगरी थी। यह मल्लों की राजधानी थी। कुसीनारा और पावा के बीच ककुत्था नदी बहती थी।

पावा की पहचान गोरखपुर जिले के पडरौना नामक स्थान से की जाती है।

गोरखपुर जिले में दूसरा स्थान खुखुन्दो है। इसका प्राचीन नाम किष्किन्धापुर बताया जाता है। जैन यात्री यहाँ यात्रा करने आते हैं। यहाँ पार्श्वनाथ की मूर्ति को लोग नाथ कह कर उसकी पूजा करते हैं। यह स्थान गोरखपुर के पूर्व में लगभग २५ कोस पर है।

## २ : पश्चिमी उत्तरप्रदेश

प्राचीन काल मे **पांचाल** ( रुहेलखण्ड ) एक समृद्धिशाली जनपद था। महाभारत में इसका अनेक जगह उल्लेख आता है। पाचाल में जन्म होने के कारण द्रौपदी पाचाली कही जाती थी।

बदायूँ, फरुखाबाद और उसके इर्दगिर्द के प्रदेश को पाचाल माना जाता है।

भागीरथी नदी के कारण पाचाल देश दो भागो में विभक्त था, एक दक्षिण पाचाल दूसरा उत्तर पाचाल। महाभारत के अनुसार दक्षिण पाचाल की राजधानी कापिल्य और उत्तर पाचाल की राजधानी अहिच्छत्रा थी।

कापिल्यपुर अथवा कम्पिलनगर गङ्गा के तट पर बसा था। यहाँ बडी धूम-धाम से द्रौपदी का स्वयवर रचा गया था। जैनो के १३वे तीर्थंकर विमलनाथ की यह जन्मभूमि थी। यहाँ महावीर के श्रावक रहते थे, और यहाँ इन्द्र महोत्सव मनाया जाता था।

कापिल्यपुर की पहचान फरुखाबाद जिले के कपिल नामक स्थान से की जाती है। यहाँ बहुत-सी खडित प्रतिमाएँ मिली हैं। यहाँ कई जैन मन्दिर हैं, और मूर्तियो पर लेख खुदे है।

दक्षिण पाचाल की दूसरी राजधानी माकदी थी। यह नगरी व्यापार का केन्द्र था। हरिभद्र सूरि की समराइच्चकहा मे इस नगरी का वर्णन आता है।

अहिच्छत्रा या अहिक्षेत्र उत्तर पाचाल की राजधानी थी। जैन सूत्रों म इसे जागल अथवा कुरु जागल की राजधानी बताया गया है। यह नगरी शख-वती, प्रत्यग्रस्थ और शिवपुर नाम स भी पुकारी जाती थी। इसकी गणना अष्टापद, ऊर्जयन्त, गजाग्रपदगिरि, धर्मचक्र और रथावर्त नामक पवित्र तीर्थों के साथ की गई है।

जैन मान्यता के अनुसार यहाँ धरणेन्द्र ने अपने फण से पार्श्वनाथ की रक्षा की थी। लेकिन आजकल यह तीर्थ विच्छिन्न है। हुअन-साग के समय यहाँ नगर के बाहर नागहृद था, जहाँ बुद्ध भगवान् ने सात दिन तक नागराज को उपदेश दिया था। इस स्थान पर सम्राट् अशोक ने स्तूप बनवाया था। जिनप्रभ सूरि के विविधतीर्थकल्प मे कहा गया है कि यहाँ ईटो का किला

और मीठे पानी के सात कुड थे जिनमे स्नान करने से स्त्रियाँ पुत्रवती होती था। नगरी के बाहर और भीतर अनेक कुएँ, बावडी आदि बने थे जिनमे नहाने से कोढ आदि रोग शान्त हो जाते थे। यहाँ अनेक औषधियाँ मिलती थीं, तथा बहुत से तीर्थस्थान थे।

अहिच्छत्रा की पहचान बरेली जिले म रामनगर नामक स्थान से की जाती है। यहाँ बहुत से पुराने सिक्के और मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है, तथा प्राचीन खडहर पडे हुए हैं।

दक्षिण पाचाल म पूर्व की ओर कान्यकुब्ज नाम का समृद्ध नगर था। यह इन्द्रपुर, गाधिपुर, महोदय और कुशस्थल नामा से भी पुकारा जाता था।

कान्यकुब्ज सातवीं सदी से लेकर १०वीं सदी तक उत्तर भारत के साम्राज्य का केन्द्र और समूचे भारत का मुख्य नगर था। चीनी यात्री हुअन-साग के आगमन के समय यहाँ राजा हर्षवर्धन का राज्य था। उस समय यह नगर शूरसेन म शामिल था।

कान्यकुब्ज की पहचान यमुना के पश्चिमी किनारे पर स्थित कन्नौज से की जाती है।

जैन सूत्रा मे अतरजिया नगरी का उल्लेख आता है। अतरजिया जैन श्रमणों की शाखा थी, इससे पता लगता है कि यह स्थान जैनों का केन्द्र था। रोहगुप्त आचार्य ने यहाँ छठे निह्नव की स्थापना की थी। आइने अकबरी म इसे कन्नौज का परगना बताया गया है।

अतरजिया की पहचान एटा जिले के अतरजिया नामक खेडे से की जाती है। यह स्थान काली नदी पर है।

सकिस्स अथवा सकिस बौद्धों का तीर्थ स्थान है। यहाँ अशोक ने स्तम्भ बनवाया था। फाहियान और हुअन-साग यहाँ आये थे। जैन कवि धनपाल की यह जन्मभूमि थी। यह स्थान आजकल इसी नाम से प्रसिद्ध है और काली नदी पर बसा है। यहाँ बहुत से सिक्के और ध्वसावशेष मिले हैं।

कुशार्त की गणना जैना के साढे पचीस आर्य देशा मे की गई है। जैन

ग्रन्थों में कहा गया है कि राजा शौरि ने अपने लघु भ्राता सुवीर को मथुरा का राज्य सौंपकर कुशार्त देश में जाकर शौरिपुर नगर बसाया। पश्चिम के कुशार्त नगर से यह भिन्न है।

शौरिपुर या सूर्यपुर कुशार्त की राजधानी थी। जैन परम्परा के अनुसार यह नगर कृष्ण और उनके चचेरे भाई नेमिनाथ की जन्मभूमि थी।

शौरिपुर यमुना के किनारे बसा था। इसकी पहचान आगरा जिले के सूर्यपुर नामक स्थान से की जाती है। यह स्थान यमुना के दाहिने किनारे बटेसर के पास है। श्वेताम्बर आचार्य हीरविजय सूरि के आगमन के समय इस तीर्थ का जीर्णोद्वार किया गया था। बटेसर में बहुत-से शिव-मन्दिर बने हैं और यहाँ कार्तिक महीने में बड़ा मेला लगता है जिसमें बहुत से घोड़े, ऊँट आदि बिकने आते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में **शूरसेन** का उल्लेख आता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार इसे राम के छोटे भाई शत्रुघ्न ने बसाया था। यहाँ की भाषा शौरसेनी कही जाती थी। मथुरा के आसपास का प्रदेश शूरसेन कहा जाता है।

शूरसेन की राजधानी मथुरा थी। उत्तरापथ का यह महत्त्वपूर्ण नगर था। महाभारत के अनुसार मथुरा यादवों की भूमि थी। कंसवध के पश्चात् जरासंध के भय से यादव लोग मथुरा छोड़कर पश्चिम की ओर चले गये और वहाँ उन्होंने द्वारका नगरी बसाई।

बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि मथुरा के अन्तर्गत ९६ गाँवों के रहने वाले लोग अपने घरों और चौराहों पर जिन भगवान् की प्रतिमा स्थापित करते थे। यहाँ एक सोने का स्तूप था, जिस पर जैन और बौद्धों में झगड़ा हुआ था। कहते हैं कि अन्त में इस स्तूप पर जैनों का अधिकार हो गया। रविषेण के बृहत्कथाकोश तथा सोमदेव सूरि के यशस्तिलक चम्पू में इसे देवनिर्मित स्तूप कहा गया है। राजमल्ल के जम्बूस्वामी चरित में मथुरा में ५०० स्तूपों का उल्लेख है, जिनका उद्धार अकबर बादशाह के समकालीन साहू टोडर द्वारा किया गया था। मथुरा का प्राचीन स्तूप आजकल कंकाली टीले के रूप में मौजूद है, जिसकी खुदाई से पुरातत्त्व संबंधी अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगा है।

६

# पंजाब-सिन्ध-काठियावाड-गुजरात-राजपूताना-मालवा-बुन्देलखंड

## १ · पंजाब-सिन्ध

मालूम होता है कि निर्दोष खान-पान की सुविधा न होने के कारण पंजाब और सिन्ध में जैनधर्म का इतना प्रचार नहीं हो सका जितना अन्य प्रदेशों में हुआ। सिन्धु देश के विषय में छेदसूत्रों में कहा है कि यदि दुष्काल विरुद्ध राज्यातिक्रम या अन्य किसी अपरिहार्य आपत्ति के कारण वहाँ जाना पड़े तो यथाशीघ्र वहाँ से लौट आना चाहिये। क्योंकि वहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं, लोग मांस और मद्य का सेवन करते हैं, तथा पाखण्डी साधु और साध्वी वहाँ निवास करते हैं।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में **गंधार** का उल्लेख आता है। बौद्ध सूत्रों में गंधार

भापातर है। आजकल भी यह बारन नाम से प्रसिद्ध है। यहां प्राचीन सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

कुरु या कुरुजागल का महाभारत में अनेक जगह उल्लेख आता है। यहाँ के लोग बहुत बुद्धिमान और स्वस्थ माने जाते थे। भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनकर यहाँ बहुत-से लोग उनके अनुयायी बने थे।

कुरुक्षेत्र या स्थानेश्वर के इर्दगिर्द के प्रदेश को कुरुदेश माना जाता है।

जातक ग्रन्थों के अनुसार कुरुदेश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ ( दिल्ली ) थी, और यह यमुना के किनारे बसी हुई थी। राजा युधिष्ठिर की यह सुन्दर नगरी थी।

जैन सूत्रों के अनुसार कुरु की राजधानी हस्तिनापुर थी। हस्तिनापुर का दूसरा नाम नागपुर था। वसुदेवहिण्डी में इसे ब्रह्मस्थल नाम से कहा गया है। यह स्थान जैन तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा पांडवों की जन्मभूमि माना जाता है। इस नगर की गणना अतिशय क्षेत्रों में की गई है। हस्तिनापुर में महावीर द्वारा शिवराजा को दीक्षा दिये जाने का उल्लेख जैन सूत्रों में मिलता है।

आजकल यह नगर उजाड पड़ा है। जङ्गल में जैन नशियाँ बनी हुई हैं, जहाँ तीर्थंकरों की चरण-पादुकाएँ हैं। यह स्थान मेरठ जिले में मवाने के पास इसी नाम से प्रसिद्ध है। आजकल यहाँ खुदाई चल रही है। इसके आसपास खादर है, सरकार इसे खेती करने योग्य बनाने का उद्योग कर रही है।

---

# ६

# पंजाब-सिन्ध-काठियावाड़-गुजरात-राजपूताना-मालवा-बुन्देलखंड

## १ : पंजाब-सिन्ध

मालूम होता है कि निर्दोष खान-पान की सुविधा न होने के कारण पंजाब और सिन्ध में जैनधर्म का इतना प्रचार नहीं हो सका जितना अन्य प्रदेशों में हुआ। सिन्धु देश के विषय में छेदसूत्रों में कहा है कि यदि दुष्काल विरुद्ध राज्यातिक्रम या अन्य किसी अपरिहार्य आपत्ति के कारण वहाँ जाना पड़े तो यथाशीघ्र वहाँ से लौट आना चाहिये। क्योंकि वहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं, लोग मांस और मद्य का सेवन करते हैं, तथा पाखण्डी साधु और साध्वी वहाँ निवास करते हैं।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में **गंधार** का उल्लेख आता है। बौद्ध सूत्रों में गंधार को उत्तरापथ का प्रथम जनपद बताया गया है।

तक्षशिला और पुष्करावती गंधार देश की क्रम से पूर्वी और पश्चिमी राजधानियाँ थीं। जातक ग्रन्थों के अनुसार तक्षशिला समूचे भारत का विद्याकेन्द्र था, और यहाँ लाट, कुरु, मगध, शिवि आदि दूर-दूर देशों के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। प्रसिद्ध वैयाकरणी पाणिनी और प्रख्यात वैद्यराज जीवक ने यहीं विद्याभ्यास किया था।

जैन ग्रन्थों में तक्षशिला को बहली देश की राजधानी बताया गया है। जैन परम्परा के अनुसार, ऋषभदेव ने अयोध्या का राज्य भरत को और बहली का राज्य बाहुबलि को सौंपकर दीक्षा ग्रहण की थी। बाद में चलकर भरत और बाहुबलि दोनों में युद्ध हुआ और बाहुबलि ने भी दीक्षा ग्रहण कर ली।

तक्षशिला का दूसरा नाम धर्मचक्रभूमिका था। यह नगरी बहुत समृद्ध थी, तथा यहाँ राजा अशोक अपने पुत्र कुणाल के साथ रहता था।

तक्षशिला की खुदाई में अनेक सिक्के, ताम्रपत्र तथा स्तूपों और विहारों के ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं। तक्षशिला की पहचान पाकिस्तान में रावलपिंडी जिले के शाहजी की ढेरी नामक स्थान से की जाती है।

साकेत के पश्चिम में थूणा (स्थाणुतीर्थ) जैन श्रमणों के विहार की सीमा थी। इस नगर का संबंध पाण्डवों के इतिहास में है। हुअन-सांग के समय यहाँ अनेक बौद्ध स्तूप बने हुए थे।

स्थानेश्वर की पहचान सरस्वती और घाघरा के बीच कुरुक्षेत्र में की जाती है। मल्लों के थूणा से यह भिन्न है।

रोहीतक का उल्लेख महाभारत और दिव्यावदान में आता है। प्राचीन समय में रोहीतक समृद्धिशाली नगर था।

इसकी पहचान आधुनिक रोहतक से की जाती है।

अभयदेव के अनुसार सौवीर (सिन्ध) सिन्धु नदी के पास होने के कारण **सिन्धु-सौवीर** कहा जाता था, यद्यपि बौद्ध ग्रन्थों में सिन्धु और सौवीर को अलग-अलग प्रदेश मानकर रोरुक को सौवीर की राजधानी बताया है। सिन्धु देश की नदियों में बाढ़ बहुत आती थी। दिगम्बर परम्परा के अनुसार रामिल्ल, स्थूलभद्र और भद्राचार्य ने उज्जयिनी में दुष्काल पड़ने पर सिंधु देश में विहार किया था।

जैन ग्रन्थों में सिन्धु-सौवीर की राजधानी का नाम वीतिभय पट्टन बताया गया है। इस नगर का दूसरा नाम कुंभारप्रक्षेप था। कहते हैं कि एक बार महर्षि उदयन किसी कुम्हार के घर ठहरे हुए थे। वहाँ उनके भानजे ने उन्हें विष दे दिया जिससे उनकी मृत्यु हो गई। इस पर देवताओं ने कुम्हार के घर को छोड़कर नगर में सर्वत्र धूल की घोर वर्षा की, अतएव इस नगर का नाम कुंभारप्रक्षेप पड़ा। महावीर द्वारा उदयन को दीक्षा दिये जाने का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। इस नगर में महावीर की चन्दन-निर्मित प्रतिमा थी

जिसके दर्शन के लिये लोग दूर-दूर से आते थे। फाहियान के समय यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था।

वीतिभयपट्टन सिणवल्लि के अन्तर्गत था। सिणवल्लि एक बड़ा विकट रेगिस्तान था, जहाँ क्षुधा-तृषा से पीडित यात्री लोगो को अक्सर प्राणा से हाथ धोना पड़ता था। सभवत पाकिस्तान में मुजफ्फरगढ जिले के सनावन या मिनावन के आसपास का प्रदेश सिणवल्लि कहा जाता हो।

वीतिभय की पहचान पाकिस्तान मे शाहपुर जिले के भेरा नामक स्थान से की जा सकती है। इसका पुराना नाम भद्रवती बताया जाता है। यहाँ पिण्डि नामक गाँव के पास बहुत से खडहर पाये गये हैं, जिनसे पता लगता है कि प्राचीन काल में यह स्थान बहुत उन्नत दशा मे था।

## २ काठियावाड़

मालूम होता है कि गुजरात और काठियावाड मे शनैः-शनै जैन धर्म का प्रसार हुआ। जैन ग्रन्थों मे सौराष्ट्र (काठियावाड) का उल्लेख महाराष्ट्र, द्रविड, आन्ध्र और कुडुक्क (कुर्ग) देशों के साथ किया गया है, जहाँ परम धार्मिक सम्प्रति राजा ने अपने भटों को भेजकर जैन धर्म का प्रचार किया। आगे चलकर राजा कुमारपाल के समय गुजरात में जैनधर्म काफी फूला फला।

**सौराष्ट्र** की गणना जैनो के साढे पच्चीस आर्य देशो में की गई है। जैन ग्रन्थो के अनुसार यहाँ कालकाचार्य ईरान के ९६ शाहो को लेकर आये थे। सौराष्ट्र व्यापार का बडा केन्द्र था।

द्वारवती सौराष्ट्र की मुख्य नगरी थी। इसका दूसरा नाम कुशस्थली था। द्वारका का वर्णन जैन सूत्रो मे आता है। पहले कहा जा चुका है कि जरासध के भय से यादव लोग मथुरा छोडकर यहाँ आ बसे थे। जैन ग्रन्थो में द्वारका को आनर्त, कुशार्त, सौराष्ट्र और शुष्कराष्ट्र की राजधानी कहा है। द्वीपायन ऋषि द्वारा द्वारका के विनाश होने का उल्लेख ब्राह्मण और जैन ग्रन्थो में मिलता है। यहाँ कादम्बरी नाम की एक गुफा थी। उत्तर की द्वारका से यह भिन्न है।

कुछ लोग जूनागढ को ही प्राचीन द्वारका मानते हैं। आजकल यह स्थान वैष्णवो का परम धाम माना जाता है।

द्वारका* के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत था। इसका दूसरा नाम ऊर्जयन्त था। यहाँ नन्दनवन नाम का वन था, जिसमें सुरप्रिय यक्ष का सुन्दर मंदिर था। यह पर्वत अनेक पक्षी, लताओं आदि से शोभित था। यहाँ पानी के झरने थे, और लोग प्रतिवर्ष उत्सव (संखडि) मनाने के लिए एकत्रित होते थे।

रैवतक पर्वत पर भगवान् अरिष्टनेमि ने मुक्तिलाभ किया, इसकी गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है। यहाँ गुजरात के प्रसिद्ध जैन मन्त्री तेजपाल के बनवाए हुए अनेक मन्दिर हैं। राजीमती (राजुल) ने यहाँ तप किया था, उसकी यहाँ गुफा बनी हुई है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार, यहाँ चन्द्रगुफा में आचार्य धरसेन ने तप किया था, और यहीं पर भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यों को अवशिष्ट श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का आदेश किया गया था। वैभार पर्वत के समान रैवतक भी क्रीडा का स्थल था।

रैवतक के इर्द-गिर्द का प्रदेश गिरिनगर या गिरिनार के नाम से पुकारा जाता था। रैवतक की पहचान जूनागढ़ के पास गिरनार से की जाती है।

प्रभास क्षेत्र को महाभारत में सर्वप्रधान तीर्थों में गिना है। इसे चन्द्र-प्रभास, देवपाटन अथवा देवपट्टन भी कहते हैं। ब्राह्मणों का यह पवित्र धाम माना जाता है। चन्द्रग्रहण के समय यहाँ अनेक यात्री आते हैं। आवश्यक चूर्णि में प्रभास को जैन तीर्थ माना गया है।

प्रभास की पहचान आधुनिक सोमनाथ से की जाती है।

शत्रुंजय जैन तीर्थों में आदितीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। जैन मान्यता के अनुसार यहाँ पञ्च पाडव तथा अन्य अनेक ऋषि-मुनियों ने मुक्तिलाभ किया। राजा कुमारपाल के राज्य में लाखों रुपये लगाकर यहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया गया था। यहाँ पर छोटे-मोटे हजारों मन्दिर बने हुए हैं। इन मन्दिरों में कुछ ग्यारहवीं शताब्दि के हैं, बाकी ईसवी सन् १५०० के बाद के बने हुए हैं।

* पटना के दीवान बहादुर राधाकृष्ण जालान के संग्रह में एक जैन स्तूप सुरक्षित है जो संगमरमर का बना है और द्वारका से लाया गया है।

यह स्थान काठियावाड में पालिताना स्टेशन से दो मील के फासले पर है। यहाँ जैन यात्रियों के ठहरने के लिए आलीशान धर्मशालाएँ बनी हुई हैं।

वलभी प्राचीन काल में सौराष्ट्र की राजधानी थी। ईसवी सन की छठी शताब्दि में यहाँ देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जैन आगमों की सङ्कलना के लिये अन्तिम सम्मेलन हुआ था। देवर्धिगणि की यहाँ मूर्ति स्थापित है।

हुअन-साग के समय यहाँ अनेक बौद्ध विहार मौजूद थे। नालन्दा के समान वलभी भी बौद्ध विद्या का केन्द्र था। यहाँ अनेक प्राचीन सिक्के और ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं।

वलभी की पहचान भावनगर से उत्तर-पूर्व में १८ मील पर वला नामक स्थान से की जाती है।

हत्थकप्प नगर का उल्लेख जैन सूत्रों में आता है। पञ्च पाडवों का यहाँ आगमन हुआ था। पाडवचरित के अनुसार, यह नगर रैवतक पर्वत से बारह योजन की दूरी पर था। शिलालेखों में हस्तकवप्र का उल्लेख आता है।

इस नगर की पहचान भावनगर रियासत के हाथब नामक स्थान से की जाती है।

महुवा बन्दर भावनगर रियासत में है। इसका दूसरा नाम मधुमती था। पार्श्वनाथ का यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है।

## ३ गुजरात

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में **लाट** देश का उल्लेख आता है, यद्यपि इसकी गणना पृथक रूप से आर्य देशों में नहीं की गई। वर्षाऋतु में यहाँ गिरियज्ञ नामक उत्सव, तथा श्रावण सुदी पूर्णिमा के दिन इन्द्र का उत्सव मनाया जाता था। इस देश में वर्षा से खेती होती थी और यहाँ खारे पानी के कुँए थे।

द्वारका* के उत्तर-पूर्व में रैवतक पर्वत था। इसका दूसरा नाम ऊर्जयन्त था। यहाँ नन्दनवन नाम का वन था, जिसमें सुरप्रिय यक्ष का सुन्दर मंदिर था। यह पर्वत अनेक पक्षी, लताओं आदि से शोभित था। यहाँ पानी के झरने थे, और लोग प्रतिवर्ष उत्सव (सखडि) मनाने के लिए एकत्रित होते थे।

रैवतक पर्वत पर भगवान् अरिष्टनेमि ने मुक्तिलाभ किया, इसकी गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है। यहाँ गुजरात के प्रसिद्ध जैन मन्त्री तेजपाल के बनवाए हुए अनेक मन्दिर हैं। राजीमती (राजुल) ने यहाँ तप किया था, उसकी यहाँ गुफा बनी हुई है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार, यहाँ चन्द्रगुफा में आचार्य धरसेन ने तप किया था, और यही पर भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यों को अवशिष्ट श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का आदेश किया गया था। वैभार पर्वत के समान रैवतक भी क्रीडा का स्थल था।

रैवतक के इर्द-गिर्द का प्रदेश गिरिनगर या गिरिनार के नाम से पुकारा जाता था। रैवतक की पहचान जूनागढ के पास गिरनार से की जाती है।

प्रभास क्षेत्र को महाभारत में सर्वप्रधान तीर्थों में गिना है। इसे चन्द्र-प्रभास, देवपाटन अथवा देवपट्टन भी कहते हैं। ब्राह्मणों का यह पवित्र धाम माना जाता है। चन्द्रग्रहण के समय यहाँ अनेक यात्री आते हैं। आवश्यक चूर्णि में प्रभास को जैन तीर्थ माना गया है।

प्रभास की पहचान आधुनिक सोमनाथ से की जाती है।

शत्रुंजय जैन तीर्थों में आदितीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। जैन मान्यता के अनुसार यहाँ पञ्च पाडव तथा अन्य अनेक ऋषि-मुनियों ने मुक्तिलाभ किया। राजा कुमारपाल के राज्य में लाखों रुपये लगाकर यहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया गया था। यहाँ पर छोटे-मोटे हजारों मन्दिर बने हुए हैं। इन मन्दिरों में कुछ ग्यारहवीं शताब्दि के हैं, बाकी ईसवी सन् १५०० के बाद के बने हुए हैं।

---

* पटना के दीवान बहादुर राधाकृष्ण जालान के संग्रह में एक जैन स्तूप सुरक्षित है जो संगमरमर का बना है और द्वारका से लाया गया है।

यह स्थान काठियावाड में पालिताना स्टेशन से दो मील के फासले पर है। यहाँ जैन यात्रियों के ठहरने के लिए आलीशान धर्मशालाएँ बनी हुई हैं।

वलभी प्राचीन काल में सौराष्ट्र की राजधानी थी। ईसवी सन की छठी शताब्दि में यहाँ देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जैन आगमों की सङ्कलना के लिये अंतिम सम्मेलन हुआ था। देवर्धिगणि की यहाँ मूर्ति स्थापित है।

हुअन-सांग के समय यहाँ अनेक बौद्ध विहार मौजूद थे। नालन्दा के समान वलभी भी बौद्ध विद्या का केन्द्र था। यहाँ अनेक प्राचीन सिक्के और ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं।

वलभी की पहचान भावनगर से उत्तर-पूर्व में १८ मील पर वला नामक स्थान से की जाती है।

हत्थकप्प नगर का उल्लेख जैन सूत्रों में आता है। पञ्च पांडवों का यहाँ आगमन हुआ था। पांडवचरित के अनुसार, यह नगर रैवतक पर्वत से बारह योजन की दूरी पर था। शिलालेखों में हस्तकवप्र का उल्लेख आता है।

इस नगर की पहचान भावनगर रियासत के हाथब नामक स्थान से की जाती है।

महुवा बन्दर भावनगर रियासत में है। इसका दूसरा नाम मधुमती था। पार्श्वनाथ का यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है।

## ३ गुजरात

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में लाट देश का उल्लेख आता है यद्यपि इसकी गणना पृथक् रूप से आर्य देशों में नहीं की गई। वर्षाऋतु में यहाँ गिरियज्ञ नामक उत्सव, तथा श्रावण सुदी पूर्णिमा के दिन इन्द्र का उत्सव मनाया जाता था। इस देश में वर्षा से खेती होती थी और यहाँ खारे पानी के कुँए थे।

द्वारका* के उत्तर-पूर्व मे रैवतक पर्वत था। इसका दूसरा नाम ऊर्जयन्त था। यहाँ नन्दनवन नाम का वन था, जिसमें सुरप्रिय यक्ष का सुन्दर मदिर था। यह पर्वत अनेक पक्षी, लताओं आदि से शोभित था। यहाँ पानी के झरने थे, और लोग प्रतिवर्ष उत्सव ( सखडि ) मनाने के लिए एकत्रित होते थे।

रैवतक पर्वत पर भगवान् अरिष्टनेमि ने मुक्तिलाभ किया, इसकी गणना सिद्धक्षेत्रों मे की जाती है। यहाँ गुजरात के प्रसिद्ध जैन मन्त्री तेजपाल के बनवाए हुए अनेक मन्दिर है। राजीमती ( राजुल ) ने यहाँ तप किया था, उसकी यहाँ गुफा बनी हुई है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार, यहाँ चन्द्रगुफा मे आचार्य धरसेन ने तप किया था, और यहीं पर भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यों को अवशिष्ट श्रुतज्ञान को लिपिबद्ध करने का आदेश किया गया था। वैभार पर्वत के समान रैवतक भी क्रीडा का स्थल था।

रैवतक के इर्द-गिर्द का प्रदेश गिरिनगर या गिरिनार के नाम से पुकारा जाता था। रैवतक की पहचान जूनागढ के पास गिरनार से की जाती है।

प्रभास क्षेत्र को महाभारत में सर्वप्रधान तीर्थों मे गिना है। इसे चन्द्र-प्रभास, देवपाटन अथवा देवपट्टन भी कहते हैं। ब्राह्मणों का यह पवित्र धाम माना जाता है। चन्द्रग्रहण के समय यहाँ अनेक यात्री आते हैं। आवश्यक चूर्णि में प्रभास को जैन तीर्थ माना गया है।

प्रभास की पहचान आधुनिक सोमनाथ से की जाती है।

शत्रुजय जैन तीर्थों मे आदितीर्थ माना जाता है। इसका दूसरा नाम पुण्डरीक है। जैन मान्यता के अनुसार यहाँ पञ्च पाडव तथा अन्य अनेक ऋषि-मुनियो ने मुक्तिलाभ किया। राजा कुमारपाल के राज्य में लाखो रुपये लगाकर यहाँ के मन्दिरो का जीर्णोद्धार किया गया था। यहाँ पर छोटे-मोटे हजारो मन्दिर बने हुए हैं। इन मन्दिरो मे कुछ ग्यारहवीं शताब्दि के हैं, बाकी ईसवी सन् १५०० के बाद के बने हुए हैं।

---

* पटना के दीवान बहादुर राधाकृष्ण जालान के सग्रह में एक जैन स्तूप सुरक्षित है जो सगमरमर का बना है और द्वारका से लाया गया है।

यह स्थान काठियावाड़ में पालिताना स्टेशन से दो मील के फासले पर है। यहाँ जैन यात्रियों के ठहरने के लिए आलीशान धर्मशालाएँ बनी हुई हैं।

वलभी प्राचीन काल में सौराष्ट्र की राजधानी थी। ईसवी सन की छठी शताब्दि में यहाँ देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जैन आगमों की सङ्कलना के लिये अंतिम सम्मेलन हुआ था। देवर्धिगणि की यहाँ मूर्ति स्थापित है।

हुअन-सांग के समय यहाँ अनेक बौद्ध विहार मौजूद थे। नालन्दा के समान वलभी भी बौद्ध विद्या का केन्द्र था। यहाँ अनेक प्राचीन सिक्के और ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं।

वलभी की पहचान भावनगर से उत्तर-पूर्व में १८ मील पर वला नामक स्थान से की जाती है।

हत्थकप्प नगर का उल्लेख जैन सूत्रों में आता है। पञ्च पाडवों का यहाँ आगमन हुआ था। पाडवचरित के अनुसार, यह नगर रैवतक पर्वत से बारह योजन की दूरी पर था। शिलालेखों में हस्तकवप्र का उल्लेख आता है।

इस नगर की पहचान भावनगर रियासत के हाथब नामक स्थान से की जाती है।

महुवा बन्दर भावनगर रियासत में है। इसका दूसरा नाम मधुमती था। पार्श्वनाथ का यह अतिशय क्षेत्र माना जाता है।

### ३ गुजरात

जैन और बौद्ध ग्रन्थों में लाट देश का उल्लेख आता है यद्यपि इसकी गणना पृथक् रूप से आर्य देशों में नहीं की गई। वर्षाऋतु में यहाँ गिरियज्ञ नामक उत्सव तथा श्रावण सुदी पूर्णिमा के दिन इन्द्र का उत्सव मनाया जाता था। इस देश में वर्षा से खेती होती थी, और यहाँ के लोग पानी के डर थे।

भृगुकच्छ लाट की राजधानी थी। यह नगर भृगुपुर नाम से भी प्रसिद्ध था। बौद्ध जातकों में भृगुकच्छ का उल्लेख आता है। यहाँ कुण्डलमेण्ठ नामक व्यंतर देव की स्मृति में उत्सव मनाया जाता था। भूततडाग नाम का यहाँ बडा तालाब था। आचार्य वज्रभूति ने भृगुकच्छ में विहार किया था। भृगुकच्छ और उज्जैनी के बीच पच्चीस योजन का अन्तर था।

भृगुकच्छ व्यापार का बडा केन्द्र था। यहाँ जल और स्थल दोनो मार्गों से व्यापार होता था। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दि में यहाँ काबुल से माल आता था।

भृगुकच्छ की पहचान आधुनिक भडौंच से की जाती है। आजकल यह मुनिसुव्रतनाथ का तीर्थ माना जाता है। अश्वावबोध नामक तीर्थ यहाँ से लगभग छह कोस है।

आनन्दपुर का पुराना नाम आनर्तपुर है। इसे नगर भी कहा जाता था। राजा ध्रुवसेन द्वितीय की यह राजधानी थी। जैन परम्परा के अनुसार यहाँ सर्वप्रथम कल्पसूत्र की वाचना हुई थी। आनन्दपुर ब्राह्मणों का केन्द्र था। जैन श्रमण यहाँ से मथुरा के लिए विहार करते थे।

आनन्दपुर व्यापार का बडा केन्द्र था। यहाँ स्थल मार्ग से माल आता-जाता था। यहाँ के निवासी सरस्वती नदी के किनारे उत्सव मनाते थे।

आनन्दपुर की पहचान उत्तर गुजरात के बडनगर स्थान से की जाती है।

मोढेरगा का उल्लेख सूत्रकृतांग चूर्णि में आता है। यहाँ सिद्धसेन आचार्य ने विहार किया था। प्राचीन शिलालेखो में इस नगरी का नाम आता है। मोढ वणिको की उत्पत्ति का यह स्थान है। हेमचन्द्राचार्य मोढ जाति में ही उत्पन्न हुए थे।

यह स्थान पाटन से लगभग १८ मील की दूरी पर है। यहाँ सूर्य का मन्दिर है।

तारङ्गागिरि से वरांग, सागरदत्त, वरदत्त आदि साढे तीन करोड मुनियो के मोक्ष जाने का उल्लेख जैन ग्रन्थो में आता है। यहाँ सिद्धशिला नाम की पहाडी है। पहाड के ऊपर आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से सम्राट् कुमारपाल

द्वारा प्रतिष्ठित विशाल मन्दिर है जिसके निर्माण में लाखों रुपये लगे थे। प्रभावकचरित्र में इस तीर्थ की उत्पत्ति दी हुई है।

महेसाणा से तारंगा हिल को रेल जाती है। तारंगा हिल स्टेशन से तीन-चार मील के फासले पर है।

पावागिरि सिद्धक्षेत्र में गिना जाता है। यहाँ से रामचन्द्र जी के पुत्र लव और कुश आदि पाँच करोड़ मुनियों के मोक्ष जाने का उल्लेख मिलता है। यह तीर्थ शत्रुंजय की जोड़ का माना जाता है। पावकगढ़ का उल्लेख शिलालेखों में पाया जाता है। यह स्थान तोमरवंशी राजाओं के अधिकार में था।

यहाँ लाखों रुपये की लागत के दिगम्बर जैन मन्दिर बने हुए हैं। पहले यह तीर्थ श्वेताम्बरों का था। यहाँ सुप्रसिद्ध मन्त्री तेजपाल ने सर्वतोभद्र नाम का विशाल मन्दिर बनवाया था। माघ सुदी १३ से यहाँ तीन दिन तक मेला भरता है।

यह स्थान बड़ौदा से अट्ठाईस मील के फासले पर चाँपानेर के पास है।

स्तंभन तीर्थ की कथा सोमधर्मगणि की उपदेशसप्ततिका में आती है। चिन्तामणि पार्श्वनाथ का यहाँ प्रसिद्ध मन्दिर है। यहाँ अभयदेव सूरि ने विहार किया था।

स्तंभन तीर्थ की पहचान आधुनिक खंभात से की जाती है।

## ४ राजपूताना

राजपूताने को मरुभूमि कहा जाता था। यहाँ शनैः-शनैः जैन धर्म का प्रचार हुआ।

**मत्स्य** देश का उल्लेख महाभारत में आता है। इस देश की गणना जैनों के साढ़े पचीस आर्य देशों में की गई है।

मत्स्य देश की पहचान आधुनिक अलवर रियासत से की जाती है।

वैराट या विराटनगर मत्स्य की राजधानी थी। वनवास के समय यहाँ पाण्डवों ने गुप्त वास किया था। यहाँ अशोक के शिलालेख पाये गये हैं। यहाँ

यात्री हुअन-सांग यहाँ आया था। वैराट में बौद्ध मठों के ध्वंसावशेष उपलब्ध हुए हैं।

यहाँ के लोग वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। आइने-अकबरी में वैराट का उल्लेख आता है। अकबर बादशाह ने इस नगर को फिर से बसाया था। यहाँ ताँबे की बहुत सी खानें थीं।

वैराट की पहचान जयपुर रियासत के बैराट नामक स्थान से की जाती है।

राजपूताने का दूसरा प्राचीन स्थान पुष्कर था। आवश्यक चूर्णि में इसको तीर्थक्षेत्र बताया है। उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत के समय यह स्थान विद्यमान था।

यहाँ पुष्कर तालाब में स्नान करने के लिये आजकल भी अनेक यात्री आते हैं। यहाँ अनेक उत्तम घाट, धर्मशालाएँ और मन्दिर बने हुए हैं।

पुष्कर अजमेर से लगभग ६ मील की दूरी पर है।

भिल्लमाल या श्रीमाल में आचार्य वज्रस्वामी ने विहार किया था। यहाँ द्रम्म नाम का चाँदी का सिक्का चलता था। छठी शताब्दि से लेकर नौवीं शताब्दि तक यह स्थान श्रीमाल गुर्जरों की राजधानी थी। श्रीमाल उपमिति-भवप्रपंचकथा के कर्ता सिद्धर्षि और माघ कवि की जन्मभूमि थी।

भिल्लमाल की पहचान जोधपुर रियासत में जसवन्तपुर के पास भिनमाल नामक स्थान से की जाती है।

अर्बुद जैनों का प्राचीन तीर्थ है। यहाँ ऋषभनाथ और नेमिनाथ के विश्व-विख्यात मन्दिर हैं, जिन्हें लाखों रुपये खर्च करके बनवाया गया था। इनमें से एक १०३२ ई० में विमलशाह का बनवाया हुआ है और दूसरा १२३२ ई० में तेजपाल का बनवाया हुआ है। दोनों ही शिखर तक संगमरमर के बने हैं। जिनप्रभसूरि के समय यहाँ श्रीमाता, अचलेश्वर, वशिष्ठाश्रम आदि अनेक लौकिक तीर्थ विद्यमान थे। बृहत्कल्पभाष्य में अर्बुद और प्रभास तीर्थों पर उत्सव ( संखडि ) मनाये जाने का उल्लेख आता है।

अर्बुद की पहचान सिरोही राज्य के अन्तर्गत आबू पहाड़ से की जाती है।

इसकी गणना शत्रुंजय, सम्मेदशिखर, गिरनार और चन्द्रगिरि नामक तीर्थों के साथ की गई है।

माध्यमिका ( मज्झमिया ) नाम की जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है। यहाँ प्राचीन शिलालेख, सिक्के एवं बौद्ध स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

माध्यमिका की पहचान दक्षिण राजपूताने में चित्तौड़ के पास नगरी नामक स्थान से की जाती है।

उदयपुर में धुलेवाजी अथवा केसरियाजी जैन तीर्थ माना जाता है। यहाँ फाल्गुन वदी ८ को बड़ा मेला लगता है, और भगवान पर मनों केसर चढ़ाई जाती है। भील आदि जातियाँ भी इस तीर्थ को पूजती हैं।

बिजोलिया उदयपुर से लगभग ११२ मील है। इसका पुराना नाम विन्ध्यावलि था। यहाँ पार्श्वनाथ का मन्दिर है।

जोधपुर में मेड़ता रोड लाइन पर मेड़ता रोड जंक्शन के पास फलोधी नाम का तीर्थ है। इस तीर्थ की कथा उपदेशसप्ततिका में आती है। यहाँ आचार्य देवसूरि का आगमन हुआ था। यहाँ पार्श्वनाथ की अढ़ाई हाथ लम्बी मूर्ति है।

विक्रम की १३-१६ शताब्दि में राणकपुर एक उन्नत और महान् नगर था। यहाँ धनाशा और रत्नाशा नाम के दो भाइयों ने लाखों रुपया खर्च करके मन्दिरों का निर्माण किया था। मेवाड़ के महाराणा कुम्भा राणा के समय विक्रम संवत् १४३४ में इस तीर्थ के निर्माण का कार्य जारी था। आजकल यह तीर्थ मारवाड़ और मेवाड़ की सन्धि पर विद्यमान है।

## ४ मालवा

मालव की गणना प्राचीन जनपदों में की गई है। यह देश जैन श्रमणों का केन्द्र था, और अवन्तिपति राजा सम्प्रति ने यहाँ जैन धर्म की प्रभावना

की थी। यहाँ के वोधिकों का उल्लेख महाभारत तथा जैन ग्रन्थों में आता है। ये लोग उज्जयिनी निवासियों को भगाकर ले जाते थे। चीनी यात्री हुअन-साग के समय मालवा विद्या का केन्द्र था और यहाँ अनेक मठ बने हुए थे।

अवन्ति मालवा की राजधानी थी। यह दक्षिणापथ की मुख्य नगरी थी। अवन्ति का उल्लेख बौद्ध सूत्रों में आता है। ईसवी सन् की सातवीं-आठवीं सदी के पहले मालव अवन्ति के नाम से प्रख्यात था। यहाँ की मिट्टी काली होती थी, अतएव यहाँ बौद्ध साधुओं को जूते पहनने और स्नान करने की अनुमति प्राप्त थी।

अवन्ति की पहचान मालवा, निमार और मध्यप्रदेश के कुछ हिस्सों में की जाती है।

अवन्ति के पूर्व में उससे सटा हुआ आकर देश था। आकर की राजधानी विदिशा थी। आगे चलकर अवन्ति और आकर क्रम से पश्चिमी और पूर्वी मालवा कहलाने लगे।

उज्जयिनी उत्तर अवन्ति की राजधानी थी। राजा चण्डप्रद्योत यहाँ राज्य करता था। कुछ समय पश्चात् सम्राट् अशोक का पुत्र कुणाल यहाँ का सूबेदार हुआ। उज्जयिनी का दूसरा नाम कुणालनगर बताया गया है। कुणाल के बाद राजा सम्प्रति का राज्य हुआ। यहाँ जीवन्तस्वामी प्रतिमा के दर्शन के लिये आर्य सुहस्ति का आगमन हुआ था। यहाँ आचार्य चंडरुद्र, भद्रकगुप्त, आर्यरक्षित, आर्यआषाढ आदि मुनियों ने भी विहार किया था। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त सम्राट् ने यहाँ भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण कर दक्षिण की यात्रा की थी। श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार यहाँ कालकाचार्य ने राजा गर्दभिल्ल को सिंहासन से उतार कर उसके स्थान पर ईरान के शाहों को बैठाया था। बाद में राजा विक्रमादित्य ने अपना राज्य स्थापित किया। सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य की सभा के एक रत्न माने जाते थे।

उज्जयिनी विशाला और पुष्पकरण्डिनी नाम से भी प्रख्यात थी। किसी समय यहाँ बौद्धों का जोर था और यहाँ अनेक बौद्ध मठ बने हुए थे। यहाँ

के लोग मद्यपान के शौक़ीन होते थे। उज्जयिनी व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

उज्जयिनी में महाकाल नाम का प्राचीन मन्दिर था, जिसका उल्लेख कालिदास ने मेघदूत में किया है। यह मन्दिर आजकल महाकालेश्वर के नाम से प्रख्यात है।

दक्षिण अवन्ति की राजधानी माहिष्मती थी। किसी समय यह बहुत समृद्धावस्था में थी। बौद्ध ग्रन्थों में इसे महेश्वरपुर कहा गया है।

माहिष्मती की पहचान नर्मदा के दाहिने किनारे पर महिष्मति अथवा महेश नामक स्थान से की जाती है। यह स्थान इन्दौर से पैंतालीस मील की दूरी पर है।

दशार्ण का नाम जैन आर्य क्षेत्रों में आता है। दशार्ण का उल्लेख महाभारत और मेघदूत में भी मिलता है। यहाँ की तलवारें बहुत अच्छी होती थीं।

भिलसा के आसपास के प्रदेश को दशार्ण माना जाता है।

मृत्तिकावती दशार्ण की राजधानी थी। यह नगरी नर्मदा के किनारे थी। आगम और हरिवंश पुराण में इसका उल्लेख मिलता है।

मेघदूत में विदिशा को दशार्ण की राजधानी कहा गया है। यहाँ महावीर की चन्दन-निर्मित मूर्ति थी। आचार्य महागिरि तथा सुहस्ति ने यहाँ विहार किया था। भरहुत के शिलालेखों में विदिशा का उल्लेख मिलता है। यहाँ बहुत से पुराने स्तूपों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। विदिशा वेत्रवती (वेतवा) के किनारे पर थी, और यहाँ के वस्त्र बहुत अच्छे होते थे।

विदिशा की पहचान आधुनिक भिलसा से की जाती है।

दशार्णपुर दशार्ण का दूसरा प्रसिद्ध नगर था। जैन अनुश्रुति के अनुसार इसका दूसरा नाम एडकाक्षपुर था। बौद्ध ग्रन्थों में इसे एरकच्छ नाम से कहा गया है। यह नगर वत्थगा (वेतवा) नदी के किनारे था, और व्यापार का बड़ा केन्द्र था।

दशार्णपुर की पहचान झाँसी जिले के एरछ नामक स्थान से की जाती है।

दशार्णपुर के उत्तर-पूर्व में दशार्णकूट नाम का पर्वत था। इसका दूसरा नाम गजाग्रपद अथवा इन्द्रपद भी था। पर्वत चारो तरफ गाँवों से घिरा था। जैन सूत्रों के अनुसार यहाँ महावीर ने राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी। आचार्य महागिरि ने यहाँ तपश्चरण किया था। आवश्यक चूर्णि मे दशार्ण-कूट का वर्णन आता है।

दशार्ण का दूसरा नगर दशपुर था। जैन श्रमणो ने इस नगर को अपने विहार से पवित्र किया था। आचार्य आर्यरक्षित की यह जन्मभूमि थी। दशपुर में जीवन्तस्वामी प्रतिमा होने का उल्लेख आता है। यहाँ सातवें निह्नव की स्थापना हुई थी।

दशपुर की पहचान आधुनिक मदसौर से की जाती है।

विदिशा के पास कुजरावर्त और रथावर्त नाम के पर्वत थे, दोनों पास-पास थे। जैन परम्परा के अनुसार कुजरावर्त पर्वत पर आर्य वज्रस्वामी ने निर्वाण पाया था। इस पर्वत का उल्लेख रामायण में आता है।

रथावर्त पर्वत पर आर्य वज्रस्वामी पाँच सौ श्रमणो के साथ आये थे। इस पर्वत का उल्लेख महाभारत में आता है।

बडवानी दिगम्बरो का तीर्थ है। दिगम्बर परपरा के अनुसार यहाँ से दक्षिण की ओर चूलगिरि शिखर से इन्द्रजीत, कुभकर्ण आदि मुनि मोक्ष पधारे। इसे बावनगजा भी कहते हैं।

यह स्थान मऊ स्टेशन से लगभग ६० मील की दूरी पर है।

मकसी पार्श्वनाथ उज्जैन से बारह कोस है।

सिद्धवरकूट रेवा नदी के तट पर है। यहाँ से साढ़े तीन करोड मुनियों का मोक्ष जाना बताया जाता है। यहाँ हर वर्ष मेला भरता है।

यह स्थान बडवाह (इन्दौर) से छह मील की दूरी पर है। यह क्षेत्र काफी अर्वाचीन मालूम होता है।

इन्दौर के पास ऊन नामक स्थान को पावागिरि (द्वितीय) कहा जाता

है। कहते हैं यहाँ से सुवर्णभद्र आदि मुनि मोक्ष पधारे। यह तीर्थ भी अर्वाचीन मालूम होता है।

## बुन्देलखण्ड

चेदि जनपद की गणना जैनों के आर्य क्षेत्र में की गई है। प्राचीन काल में यहाँ राजा शिशुपाल राज्य करता था। चेदि बौद्ध श्रमणों का केन्द्र था।

बुन्देलखण्ड के उत्तरी भाग को प्राचीन चेदि माना जाता है।

शुक्तिमती चेदि देश की राजधानी थी। शुक्तिमती का उल्लेख महाभारत में मिलता है। सुत्तिवइया नामक जैन श्रमणों की शाखा थी।

बाँदा जिले के इर्दगिर्द के प्रदेश को शुक्तिमती माना जाता है।

आरम्भ में मध्यप्रदेश में जैनधर्म का प्रचार बहुत कम था, लेकिन मालूम होता है आगे चल कर यहाँ बहुत से जैन तीर्थों का निर्माण हो गया।

बुन्देलखण्ड के द्रोणगिरि, नैनागिरि और सोनागिरि को सिद्धक्षेत्र माना जाता है।

बुन्देलखण्ड की बिजावर रियासत के सेंदपा गाँव के समीप का पर्वत द्रोणगिरि माना जाता है। यहाँ से गुरुदत्त आदि मुनियों का मोक्षगमन बताया है। यहाँ चौबीस मन्दिर हैं, वार्षिक मेला भरता है।

नैनागिरि क्षेत्र को रेसिन्दीगिरि बतलाया जाता है। कहते हैं यहाँ से वरदत्त आदि मुनियों ने मोक्ष लाभ किया। यह स्थान सागर ज़िले की ईशान सीमा के पास पन्ना रियासत में है। यहाँ वार्षिक मेला लगता है।

सोनागिरि में दो-चार को छोड़ कर शेष मन्दिर सौ सवा-सौ वर्ष के भीतर के जान पड़ते हैं। यह स्थान ग्वालियर के पास दतिया से पाँच मील है।

कुंडलपुर, खजराहा, थोवनजी, पपौरा, देवगढ़, चन्देरी, अहारजी आदि अतिशय क्षेत्र माने जाते हैं।

कुण्डलपुर दमोह से बीस मील ईशान कोण में है। सुन्दर मन्दिर महावीर का है, और यहाँ महावीर जयन्ती का मेला भरता है।

किसी समय खजराहा बुन्देलखण्ड की राजधानी थी। शिलालेखों में इसका नाम खज्जूरवाहक आता है। हुअन-सॉग ने इसका वर्णन किया है। यह नगर चन्देलवंश के राजाओं के समय चरमोन्नति पर था। यहाँ करोड़ों रुपये की लागत के जैन मन्दिर बने हुए हैं, जो ईसवी सन् ६५० से लेकर १०५० तक के हैं। खजराहा में अनेक खण्डित जैन मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। यहाँ का मन्दिर-समूह इस काल की कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

देवगढ जाखलौन स्टेशन से लगभग आठ मील की दूरी पर है। यहाँ लाखों रुपये की लागत के जैन मन्दिर बने हुए हैं। यहाँ गुप्तकाल के लेख मौजूद हैं। यहाँ की शिल्पकला बहुत सुन्दर है। देवगढ को उत्तर भारत की जैनबद्री कहा जाता है।

चन्देरी ललितपुर से बीस मील दूर है। यहाँ अत्यन्त मनोज्ञ जैन मन्दिर बने हुए हैं।

थोवनजी चंदेरी से नौ मील के फासले पर है।

पपौराजी क्षेत्र टीकमगढ से तीन मील है।

अहारजी में सुन्दर जैन मूर्त्तियाँ हैं। यह स्थान टीकमगढ से पूर्व की ओर बारह मील है।

---

# ७

# दक्षिण

## बरार हैदराबाद-महाराष्ट्र-कोंकण-आन्ध्र-द्रविड-कर्णाटक-कुर्ग आदि

मध्यदेश से जैसे-जैसे जैन श्रमणों ने दक्षिण की ओर विहार किया, दक्षिण में शनैः-शनैः जैनधर्म का प्रचार होता गया। जैनों के साढ़े पच्चीस आर्य क्षेत्रों में दक्षिण के देशों के नाम नहीं, इससे मालूम होता है कि आरम्भ में दक्षिण में जैनधर्म नहीं पहुँचा था। लेकिन धीरे-धीरे राजा सम्प्रति ने दक्षिणापथ को जीतकर उसके सामंत राजाओं को अपने वश में किया, और आगे चलकर आन्ध्र, द्रविड, कुडुक्क (कुर्ग) आदि देशों में जैनधर्म फैलाया। परिणाम यह हुआ कि दक्षिण में जैन उपासकों की संख्या बढ़ने लगी, और यहाँ जैन श्रमणों का सन्मान होने लगा। आगे चलकर तो दक्षिण में कुन्दकुन्द आचार्य और गोल्ल आचार्य जैसे दिग्गज आचार्यों का तथा द्रविड संघ, पुन्नाट संघ आदि संघों का जन्म हुआ, एक से एक सुन्दर तीर्थों की स्थापना हुई और दिगम्बर जैनों का यह केन्द्र बन गया।

### १ : बरार

**विदर्भ** का उल्लेख महाभारत में आता है। यहाँ राजा नल राज्य करता था।

यह देश आजकल दक्षिण कोशल, गोंडवाना या बरार के नाम से पुकारा जाता है।

कुंडिननगर विदर्भ का मुख्य नगर था। इसका उल्लेख बृहदारण्यक उपनिषद् और महाभारत में आता है।

यह स्थान आजकल अमरावती के चादूर तालुका में है। यहाँ जैन मन्दिर है।

अचलपुर ( एलिचपुर ) विदर्भ देश का दूसरा मुख्य नगर था। इसके पास कृष्णा ( कन्हन ) और वेन्या ( वेन ) नदियाँ बहती थीं। इन नदियों के बीच ब्रह्मद्वीप नाम का द्वीप था। यहाँ बहुत से तपस्वी रहते थे। ब्रह्मद्वीपिका नाम की जैन श्रमणों की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है, इससे मालूम होता है कि यह स्थान जैनधर्म का केन्द्र रहा होगा। अचलपुर का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में किया है।

मुक्तागिरि निर्वाणक्षेत्र माना जाता है। १८वीं सदी के यात्रियों ने इसे शत्रुञ्जय के तुल्य तीर्थ बताते हुए यहाँ चौबीस तीर्थङ्करों के उत्तुङ्ग प्रासादों का उल्लेख किया है।

यह स्थान एलिचपुर से बारह मील दूर है। यहाँ के अधिकांश मन्दिर १६वीं सदी के बने हुए हैं।

अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ की कथा उपदेशसप्ततिका में आती है। यहाँ श्रीपाल का कुष्ठ दूर हुआ था।

यह स्थान आकोला से लगभग उन्नीस कोस दूर शिरपुर ग्राम के पास है।

भातकुली अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यह स्थान अमरावती से दस मील के फासले पर है। पार्श्वनाथ की यहाँ मूर्त्ति है।

## २ : हैदराबाद

तगरा **आभीर** देश की सुन्दर नगरी थी। आभीर देश जैन श्रमणों का केन्द्र था। यहाँ आर्य समित और वज्रस्वामी ने विहार किया था। तगरा में राढाचार्य का आगमन हुआ था। करकण्डुचरिय में इस नगर का इतिहास दिया हुआ है।

तगरा की पहचान उसमानाबाद ज़िले के तेर नामक स्थान से की जाती है।

तगर से आठ मील पर धाराशिव है। आराधना कथाकोष में तेर नगर और धाराशिव का वर्णन आता है। यहाँ बहुत सी गुफाएँ हैं, जिन्हें राजा करकण्डु ने बनवाया था।

आजकल इस स्थान को उसमानाबाद कहते हैं।

कुल्पाक की गणना प्राचीन तीर्थों में की जाती है। यह क्षेत्र आदिनाथ का प्राचीन तीर्थ माना जाता है। उपदेशसप्ततिका में कुल्पाक की कथा आती है। यहाँ आदिनाथ की प्रतिमा माणिक्यदेव के नाम से प्रख्यात है।

यह तीर्थ निजाम स्टेट में सिकन्दराबाद के पास है।

अजन्ता और एलोरा नाम की प्राचीन गुफाएँ भी इसी रियासत में हैं। अजंता की गुफाओं में बौद्ध जातकों के अनेक दृश्य अंकित हैं। ये गुफाएँ ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि से लेकर ईसवी सन् की छठी शताब्दि तक की मानी जाती हैं। एलोरा का प्राचीन नाम इलापुर है। यहाँ एक समूची पहाड़ी काटकर मन्दिरों में परिवर्तित कर दी गई है, जिनमें चूने-मसाले व कील-काँटों का नाम नहीं। यह स्थान किसी ज़माने में मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी था। यहाँ ब्राह्मण, बौद्ध और जैनों के मन्दिर बने हुए हैं, जिनका समय ८वीं शताब्दि है।

ऊखलद अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यहाँ नेमिनाथ का मन्दिर है, प्रतिवर्ष माघ का मेला लगता है।

यह स्थान निजाम स्टेट रेलवे के मीरखेल स्टेशन से तीन-चार मील है।

आष्टे हैदराबाद रियासत में दुधनी स्टेशन के पास है। यहाँ जैन चैत्यालय बना हुआ है।

कुंथलगिरि की गणना सिद्धक्षेत्रों में की जाती है। यहाँ से कुलभूषण और देशभूषण मुनियों का मोक्षगमन बताया जाता है।

यह स्थान बार्सी टाउन रेलवे स्टेशन से लगभग बीस मील है।

[illegible] महावीर का अतिशय क्षेत्र माना जाता है। यह स्थान औरंगा-

पुर जिले में दिक्रमाल स्टेशन से लगभग बाईस मील है ।

स्तवनिधि कोल्हापुर रियासत में, कोल्हापुर शहर से लगभग तीस मील है।

श्रीक्षेत्रकुम्भोज कोल्हापुर रियासत मे हातकलगणा स्टेशन से लगभग चार मील है। गॉव मे एक मन्दिर है।

## ३ : महाराष्ट्र

**महाराष्ट्र** के अनेक रीति-रिवाजो का उल्लेख जैन छेदसूत्रों की टीका-टिप्पणियो में मिलता है। राजा सम्प्रति ने इस देश मे जैनधर्म का प्रचार किया था। लेकिन आगे चलकर मालूम होता है कि यह प्रदेश जैनधर्म का खासा केन्द्र बन गया था।

प्रतिष्ठान या पोतनपुर महाराष्ट्र की राजधानी थी। बौद्ध ग्रन्थों में पोतन या पोतलि को अश्मक देश की राजधानी कहा है।

प्रतिष्ठान महाराष्ट्र का भूषण माना जाता था। यह नगर विद्या का केन्द्र था। यहॉ श्रमण-पूजा नाम का बडा भारी उत्सव मनाया जाता था। जैन ग्रन्थो से पता लगता है कि यहॉ पादलिप्त सूरि ने पइट्ठान के राजा की शिरो-वेदना दूर की थी। कालकाचार्य ने यहाँ विहार किया था। कहते हैं कि एक बार कालकाचार्य उज्जयिनी से यहॉ पधारे और सातवाहन (शालिवाहन) के आग्रह पर इन्द्र महोत्सव के कारण पर्यूषण पर्व की तिथि बदल कर पञ्चमी से चतुर्थी कर दी। जैन ग्रन्थो मे प्रतिष्ठान को भद्रबाहु (द्वितीय) और वराह-मिहिर का जन्म-स्थान माना गया है।

जिनप्रभ सूरि के समय यहॉ अडसठ लौकिक तीर्थ थे। प्रतिष्ठान व्यापार का बडा केन्द्र था।

इसकी पहचान औरङ्गाबाद जिले के पैठन नामक स्थान से की जाती है।

## ४ : कोंकण

**कोंकण** देश मे जैन श्रमणो ने विहार किया था। यह देश परशुराम क्षेत्र के नाम से भी पुकारा जाता था। अत्यधिक वर्षा होने के कारण जैन

साधु यहाँ छतरी लगा सकते थे। यहाँ के लोग फल-फूल के बहुत शौकीन होते थे। यहाँ गिरियज्ञ नाम का उत्सव मनाया जाता था। कोंकण की अटवी का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। मच्छर यहाँ बहुत होते थे। यहाँ यूनान के व्यापारी व्यापार के लिए आते थे।

पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच के हिस्से को कोंकण कहा जाता है।

कोंकण की राजधानी शूर्पारक थी। इस नगर का उल्लेख महाभारत मे मिलता है। पच पाण्डव प्रभास जाते हुए यहाँ ठहरे थे। आचार्य वज्रसेन, आर्य समुद्र और आर्य मगु ने यहाँ विहार किया था। यहाँ बहुत से व्यापारी रहते थे और भृगुकच्छ तथा सुवर्णभूमि तक व्यापार के लिए जाते थे।

शूर्पारक की पहचान बम्बई इलाके के ठाणा जिले में सोपारा स्थान से की जाती है। आजकल यहाँ बडी हाट लगती है।

नासिक्यपुर ( नासिक ) कोंकण का दूसरा प्रसिद्ध नगर था। यह स्थान गोदावरी के किनारे है और ब्राह्मणों का परम धाम माना जाता है।

यहीं पर दण्डकारण्य था, जहाँ रामचन्द्र जी आकर रहे थे। जैन ग्रन्थों में इसका दूसरा नाम कुम्भकारकृत बताया गया है। इस नगर के नाश होने की कथा रामायण, जातक तथा निशीथचूर्णि में आती है।

तुंगिय पर्वत पर राम बलभद्र के मोक्ष होने का उल्लेख प्राचीन जैन ग्रन्थों में आता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार यहाँ से राम, हनुमान, सुग्रीव आदि निन्यानवे कोटि मुनि मोक्ष पधारे।

यह क्षेत्र मनमाड़ स्टेशन से साठ मील दूर है। आजकल इसे मांगी-तुंगी कहते हैं।

नासिक से पांच-छह मील के फासले पर गजपंथा नामक तीर्थ है। यहाँ से सात बलभद्र और यादव आदि मुनियों का मोक्ष होना बताया जाता है, लेकिन यह क्षेत्र काफी अर्वाचीन जान पड़ता है।

### ५ आन्ध्र

आन्ध्र देश में राजा सम्प्रति ने जैन धर्म का प्रचार किया था। बौद्ध

जातकों में आन्ध्र की राजधानी का नाम अन्धपुर बताया गया है। अन्धपुर नगर का उल्लेख जैन ग्रन्थों में आता है। यह नगर तेलवाह नदी पर था।

महाराष्ट्र के पूर्व-दक्षिण तेलुगु भाषा का समूचा क्षेत्र आन्ध्र या तेलगण देश कहा जाता है।

वनवासी नगरी का उल्लेख ब्राह्मणों की हरिवंश पुराण में आता है। जैन ग्रन्थों के अनुसार यहाँ ससय और भसय नामक राजकुमारों ने अपनी बहन सुकुमालिया के साथ जैन दीक्षा ली थी।

छठी शताब्दि तक यह नगर कदम्बों की राजधानी रही। आजकल यह स्थान उत्तर कनाडा में सिरसी ताल्लुका में वरदा नदी के बाँये किनारे इसी नाम से मौजूद है। यहाँ प्राचीन अभिलेख मिले हैं।

## ६ : गोल्ल

**गोल्ल** देश के अनेक रीति-रिवाजो का उल्लेख जैन चूर्णि ग्रन्थों में मिलता है। जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त का मन्त्री चाणक्य यहीं का रहने वाला था। गोल्लाचार्य का उल्लेख श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में आता है।

इस देश की पहचान गुन्टूर जिले की गल्लरु नामक नदी पर गोलि स्थान से की जा सकती है। यहाँ बहुत से शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, इससे भी इस स्थान की प्राचीनता प्रकट होती है।

## ७ : द्रविड़

**द्रविड़** ( दमिल ) तमिल का संस्कृत रूप है। द्रविड में पहले चोल, चेर और पाण्ड्य देश गर्भित थे। हुअन-साँग के समय द्रविड के उत्तर में कोंकण और धनकटक तथा दक्षिण में मालकूट था। जैन ग्रन्थों से पता लगता है कि आरंभ में यहाँ जैन साधुओं को वसति ( उपाश्रय ) आदि का कष्ट होता था।

काचीपुर द्रविड की राजधानी थी। बृहत्कल्पभाष्य से पता लगता है कि यहाँ नेलक नाम का सिक्का चलता था। यहाँ के दो नेलक कुसुमपुर (पटना)

के एक नेलक के बराबर होते थे। हुअन-साँग के समय यह नगर बौद्धों का केन्द्र था। स्वामी समंतभद्र की यह जन्मभूमि थी। आठवीं शताब्दि में जैनों का यहाँ बहुत प्रभाव था। काँचीपुर चोल की राजधानी रही।

कांचीपुर की पहचान मद्रास सूबे के काँजीवर नामक स्थान से की जाती है।

## ८ : कर्णाटक

कर्णाटक का पुराना नाम कुन्तल है। महाराष्ट्र के दक्षिण में कनाड़ी भाषा का क्षेत्र कर्णाटक कहा जाता है। इसमें कुर्ग, मैसूर आदि प्रदेश सम्मिलित थे।

जैन ग्रन्थों में कुडुक्क देश का अनेक जगह उल्लेख आता है। राजा सम्प्रति के समय से इस देश में जैन धर्म का प्रचार हुआ। व्यवहारभाष्य में कुडुक आचार्य का उल्लेख आता है।

कुडुक की पहचान आधुनिक कुर्ग से की जा सकती है। इस प्रदेश को कोडगु भी कहते हैं।

कर्णाटक में श्रवणबेलगोल दिगम्बर जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसे जैनबद्री, जैन काशी अथवा गोम्मट तीर्थ भी कहा जाता है। यहाँ बाहुबलि स्वामी की सत्तावन फीट ऊँची मनोज्ञ मूर्ति है, जो दस-बारह मील से दिखाई देने लगती है। जैन मान्यता के अनुसार भद्रबाहु स्वामी और उनके शिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मुनि ने यहाँ आकर तप किया था। यहाँ लगभग पाँच सौ शिलालेख मौजूद हैं। विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि नामक यहाँ दो पर्वत हैं। इस तीर्थ की स्थापना राजमल्ल नरेश के राजमंत्री सेनापति चामुण्डराय ने ईसवी सन् ९८३ के लगभग की थी।

मूडबिद्री होयसल काल में जैनियों का मुख्य केन्द्र था। यहाँ अनेक मंदिर और सुन्दर स्थान हैं। यहाँ पर पुरुष-प्रमाण बहुमूल्य प्रतिमाएँ हैं। प्राचीन ग्रन्थों के यहाँ भंडार हैं।

कारकल मूडबिद्री से दस मील है। यहाँ बाहुबलि की विशाल प्रतिमा और

सुन्दर मान-स्तभ है । इस मूर्ति को सन् १४३२ मे कारकल नरेश वीर पाड्य ने निर्माण कराया था ।

वेणूर जैनों का केन्द्र था । कभी यहाँ अजलिर वश के जैन राजाओं का राज्य था । उनमें से वीर निम्मराज ने सन् १६०४ में बाहुबलि स्वामी की विशाल प्रतिमा बनवाई थी । यह स्थान मूडबिद्री से बारह मील और कारकल से चौबीस मील है ।

मथुरा या दक्षिण मथुरा का उल्लेख प्राचीन जैन सूत्रों में आता है । इसे पाडु मथुरा भी कहते थे । कृष्ण के कहने से यहाँ पच पाडव आकर रहे थे । यह स्थान व्यापार का बडा केन्द्र था । पुराने जमाने में यहाँ के पडित प्रसिद्ध होते थे ।

मथुरा की पहचान मद्रास सूबे के उत्तर में मदुरा नामक स्थान से की जाती है ।

# शब्दानुक्रमणिका

के कारण, परमात्मा नहीं माना है, बल्कि 'अहिंसा' के कारण परमात्मा माना है। अब भूगोल-खगोल क्यों नहीं मिलता, इसके लिये हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे हम यह बतला सकें, कि उन्होने भूगोल–खगोल की रचना किस विशिष्ट-विचार से की है। परन्तु अहिंसा का सिद्धान्त, जो अनुभव मे सत्य और पूर्ण कल्याणकारी है, उस पर से कह सकते है, कि अहिंसा सिद्धान्त को मानने वाले, कभी झूठ नही बोल सकते।

अहिंसावादी, थोड़ा भी असत्य कहना, आत्मा का घात करना समझता है। पूर्ण अहिंसावादी, आत्मा का घात, जो हिंसा है, कैसे करेगा ? अतः यह प्रश्न होता है, कि फिर उन्होंने जो भूगोल–खगोल रचा है, वह प्रचलित भूगोल-शास्त्र के सन्मुख, सत्य क्यो नही प्रतीत होता ? इसके लिये एक उदाहरण देते हैं.—

हवा को थैली मे भरकर, यदि सोना–चांदी तौलने के साधनों से तौले, तो हवा का कोई वजन मालूम नही होता। किन्तु वैज्ञानिकों का कथन है, कि वायु में भी वजन है और वह वजन तोल में आता है। हमे, हवा बिना वजन की मालूम होती है, इसका कारण यह है, कि हमारे पास उसे तौलने के साधन नहीं हैं। इसी प्रकार हमारा भूगोल जिस सिद्धान्त पर

कि अमेरीका मे प्राय ९५ प्रतिशत विवाह-सम्बन्ध टूट जाते है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष आज भी गरीब मनुष्यों को जैसा सुख दे सकता है, उतने प्रमाण मे वहा के गरीबों को सुख नहीं मिलता। मैं घाटकोपर (बम्बई) में था, तब सुना था कि भारत के एक अमेरिका गये हुए सज्जन का पत्र आया है, उसमें उन्होंने लिखा है कि 'अमेरिका के निम्न श्रेणी के मनुष्यों की आर्थिक-स्थिति, निम्न-श्रेणी के भारतीयों की अपेक्षा बहुत बुरी है। यहा के गरीब प्राय अखबार तक ओढ़ने बिछाने के काम में लेते हैं।'

कुछ मनुष्य तो अरबपति हैं और कुछ ऐसे हैं, जिन्हे ओढने-बिछाने को भी नहीं मिलता, इसे सुधार या उन्नति कहना उचित नहीं है। प्रत्येक प्राणी को अपने आत्मा के समान समझकर कूड़-कपट न करे, यह वास्तविक–उन्नति है। यदि यह कहा जाय, कि वह वैषम्य ही वास्तविक उन्नति है, अर्थात् गरीबों के जीवन-मरण का विचार न करके, प्रत्येक सम्भव उपाय से धन खींचकर तिजोरी भर लेना ही उन्नति है, तो यह भी मानना पडेगा, कि जो मनुष्य दगो करके धन एकत्रित करता है, वह भी उन्नति कर रहा है। किन्तु इस तरह दगा-फटका करके धन छीनने को उन्नति मानना, उन्नति का अर्थ नहीं समझना है। एक अहिंसावादी, चाहे मरजाय, किन्तु अन्याय–पूर्वक किसी

का धन या प्राण हरण नहीं करता और एक दूसरा मनुष्य, किसी को मारकर अपना मतलब सिद्ध करे, इन दोनों में आप उन्नत किसे समझते हैं ?

'अहिंसावादी को'

अहिंसा-धर्म का रहस्य ठीक-ठीक न समझने, अथवा अहिंसावादी कहलाकर भी बुरे कार्य करने से, अवनति न हो, तो क्या उन्नति हो ? आज, मन्दिरों, तीर्थों और धर्म-स्थानों मे, धर्म के नाम पर कहीं-कहीं जो अत्याचार हो रहे हैं, क्या इन सब कुकर्मों का फल मिले बिना रहेगा ? भारतवर्ष, आज अपने कर्मों से ही अवनति के गढ़े में गिरता जा रहा है। अब-तक, मनुष्यो में जो सत्य, शील आदि गुणो का कुछ अंश शेष है, वह सब पूर्वजो के प्रताप से ही है। आज तो केवल पूर्वजो की एकत्रित की हुई धर्म-सम्पत्ति को व्यय कर रहे हैं कुछ नया कमा कर उसमे नही जोड़ते। आज भी जितने मनुष्य अहिंसापालन का तप, जितने प्रमाण में करते हैं, उतने प्रमाण में वे संसार को कल्याण-मार्ग पर लगाते और विघ्नों को दूर हटाते हैं।

कोई यह कहे, कि जैन-धर्म में दो प्रकार की अहिंसा की व्याख्या क्यो मिलती है ? जैसे दूसरा पक्ष कहता है, कि 'न मारना तो अहिंसा है, किन्तु किसी मरते जीव को बचाना

पाप है,' यह कौनसा न्याय है? इसका उत्तर यह है, कि जिनको अहिंसा का अर्थ मालूम नही है, वे चाहे जो कहें, किन्तु यह बात दुनिया जानती है, कि अहिंसा शब्द हिंसा का विरोधी है। जिसमें हिंसा का विरोध हो, वह अहिंसा है और जिसमे अहिंसा का विरोध हो, वह हिंसा है। मान लीजिए, कि एक मनुष्य दूसरे निरपराधी–मनुष्य को तलवार से मार रहा है। अब एक तीसरे मनुष्य ने उपदेशादि से उसे रोका, तो यह हिंसा का विरोध हुआ न ?

'हां'

यह बात पहले ही कही जा चुकी है, कि हिंसा का विरोध अहिंसा है। अत जो मनुष्य हिंसा रोकता है, अर्थात् हिंसा का विरोध करता है वह निश्चित ही अहिंसक है। कोई भी बुद्धिमान-मनुष्य यह बात नहीं कह सकता, कि रक्षा करनेवाला हिंसक या पापी है।

रावण, सीता का शील हरण करने को तयार था, और विभीषण ने उसे रोका, तो कुशीला कौन है ?

'रावण'

और विभीषण ?

'शीलवान है'

यदि कोई मनुष्य यह कहने लगे, कि सीता का शील

बचाने के कारण विभीषण कुशीला हो गया, तो क्या उसका यह कहना न्याय है ?

'नहीं'

जब ऐसा है, तो जो मनुष्य 'मत मार' कहता है, उसे हिंसक बताना क्या उचित है ?

'नहीं'

जो मनुष्य अहिंसा का यह अर्थ करते है, कि केवल न मारना अहिंसा है, बचाना हिंसा है, वे गलती करते हैं। अहिंसाधर्म, संसार का सर्वोत्तम-धर्म है। यह बिलकुल स्वाभाविक और आत्मानुभव से सिद्ध धर्म है। इसमे सन्देह करने की गुञ्जायश ही नहीं है।

सारांश यह, कि प्रत्येक बात को देख लेना चाहिये कि वह कहां तक सत्य है। सन्देहादि, निर्णयात्मक बुद्धि से दूर कर लेने चाहिएँ; किन्तु ऐसे सन्देह न करने चाहिएँ, कि 'न मालूम धर्म नाम की कोई चीज है या नही! अथवा अच्छे कार्यों का फल मिलेगा या नहीं! या ईश्वर है या नही! किंवा साधु के पास जाने से लाभ होगा कि नहीं!' आदि। जो मनुष्य इस प्रकार के सन्देह करता है, उसका आत्मा ज्ञान-दृष्टि से नष्ट हो जाता है और जो निर्णयात्मक-बुद्धि से अपनी शङ्काओ का निवारण करता है, वह भद्र-कल्याण-मार्ग पाता है।

इच्छा करने का नाम कांक्षा है। अन्य धर्म का दर्शन, या धार्मिक-क्रिया देख कर, उसे ग्रहण करने की इच्छा का नाम कांक्षा है। 'अन्य धर्मावलम्बी भी अहिंसा को धर्म कहते हैं और कई एक बातें उनकी युक्तियुक्त भी हैं, अतएव मैं अपने धर्म को छोड़ कर उनका धर्म धारण करलूँ तो क्या हानि है?' इस प्रकार अन्य दर्शनों के प्रति जो उपादेय-बुद्धि होती है, उसको कांक्षा कहते हैं। ऐसी उपादेय-बुद्धि न रखने का नाम, निर्कांक्षित-बुद्धि है।

समदृष्टि को निर्कांक्षी होना आवश्यक है। क्योंकि यद्यपि ऊपर से बौद्धादि दर्शनों की बहुत सी बातें जैन-दर्शन के समान दिखाई देती हैं, किन्तु पूर्वापर विरुद्ध होने से उनकी वे बातें यथार्थ-सत्य नहीं हैं। समदृष्टि को सर्वज्ञ प्रणीत धर्म के सिवा, असर्वज्ञों के कथन किये हुए दर्शनों की कांक्षा करना कैसे उचित हो सकता है? अत निर्कांक्षा, समकित का आचार मानी गई है।

विचिकित्सा, यानी फल के प्रति सन्देह करना। कोई मनुष्य यह सोचे, कि "मैं धर्म पालने में इतना परिश्रम कर रहा हूँ, इसका फल मिलेगा या न मिलेगा! अथवा ये साधु लोग अपनी देह मैली क्यों रखते हैं? यदि अचितजल से स्नान करलें, तो क्या दोष होगा? इस प्रकार के विचार करके साधु-

बचाने के कारण विभीषण कुशीला हो गया, तो क्या उसका यह कहना न्याय है ?

'नहीं'

जब ऐसा है, तो जो मनुष्य 'मत मार' कहता है, उसे हिंसक बताना क्या उचित है ?

'नहीं'

जो मनुष्य अहिंसा का यह अर्थ करते है, कि केवल न मारना अहिंसा है, बचाना हिंसा है, वे गलती करते हैं। अहिंसाधर्म, संसार का सर्वोत्तम-धर्म है। यह बिलकुल स्वाभाविक और आत्मानुभव से सिद्ध धर्म है। इसमे सन्देह करने को गुञ्जायश ही नहीं है।

सारांश यह, कि प्रत्येक बात को देख लेना चाहिये कि वह कहां तक सत्य है। सन्देहादि, निर्णयात्मक बुद्धि से दूर कर लेने चाहिएँ; किन्तु ऐसे सन्देह न करने चाहिएँ, कि 'न मालूम धर्म नाम की कोई चीज है या नही! अथवा अच्छे कार्यों का फल मिलेगा या नहीं! या ईश्वर है या नहीं! किंवा साधु के पास जाने से लाभ होगा कि नहीं!' आदि। जो मनुष्य इस प्रकार के सन्देह करता है, उसका आत्मा ज्ञान-दृष्टि से नष्ट हो जाता है और जो निर्णयात्मक-बुद्धि से अपनी शङ्काओं का निवारण करता है, वह भद्र-कल्याण-मार्ग पाता है।

इच्छा करने का नाम कांक्षा है। अन्य धर्म का दर्शन, या धार्मिक-क्रिया देख कर, उसे ग्रहण करने की इच्छा का नाम कांक्षा है। 'अन्य धर्मावलम्बी भी अहिंसा को धर्म कहते हैं और कई एक बातें उनकी युक्तियुक्त भी हैं, अतएव मैं अपने धर्म को छोड़ कर उनका धर्म धारण करलूँ तो क्या हानि है ?' इस प्रकार अन्य दर्शनों के प्रति जो उपादेय-बुद्धि होती है, उसको कांक्षा कहते हैं। ऐसी उपादेय-बुद्धि न रखने का नाम, निर्कांक्षित-बुद्धि है।

समदृष्टि को निर्कांक्षी होना आवश्यक है। क्योंकि यद्यपि ऊपर से बौद्धादि दर्शनों की बहुत सी बातें जैन-दर्शन के समान दिखाई देती हैं, किन्तु पूर्वापर विरुद्ध होने से उनकी वे बातें यथार्थ-सत्य नहीं हैं। समदृष्टि को सर्वज्ञ प्रणीत धर्म के सिवा, असर्वज्ञों के कथन किये हुए दर्शनों की कांक्षा करना कैसे उचित हो सकता है ? अत निर्कांक्षा, समकित का आचार मानी गई है।

विचिकित्सा, यानी फल के प्रति सन्देह करना। कोई मनुष्य यह सोचे, कि "मैं धर्म पालने में इतना परिश्रम कर रहा हूँ, इसका फल मिलेगा या न मिलेगा ! अथवा ये साधु लोग अपनी देह मैली क्यों रखते हैं ? यदि अचितजल से स्नान करलें, तो क्या दोष होगा ? इस प्रकार के विचार करके साधु-

लोगो की निन्दा करना, यह विचिकित्सा है। विचिकित्सा के अभाव को, निर्विचिकित्सा कहते हैं।

अन्य धर्मावलम्बियों को ऋद्धि-सम्पन्न देखकर भी जिसके मन में ऐसा व्यामोह पैदा न हो, कि "यह ऋद्धि सम्पन्न है, इससे इसका-धर्म श्रेष्ठ है और मैं अल्पऋद्धि हूँ, इसलिये मेरा धर्म कनिष्ठ है" यह अमूढ़-दृष्टि नामक समकित का आचार है।

अमूढ़-दृष्टि का एक अर्थ यह और है।

किसी की बाहरी सिद्धि देखकर, जो मनुष्य हृदय में यह विचार लाता है, कि "ये गुरु तो चमत्कार नहीं दिखलाते और उस धर्म के गुरु चमत्कार दिखलाते है,' वह मूढ़-दृष्टि है। ऐसी मूढ़-दृष्टि न रखना अमूढ़-दृष्टि आचार है।

उपरोक्त चार आचार, आन्तरिक हैं। यानी हृदय से होनेवाले आचार हैं। अब बाह्याचार अर्थात् बाहरी आचारों का वर्णन किया जाता है।

किसी के धार्मिक-उत्साह को बढ़ाने का नाम उपबृंहा है। जैसे—कि दर्शनादि उत्तम गुणों से युक्त पुरुषों के गुणों को यह कह कर बढ़ाना, कि "आपका जन्म सफल है, आप लोगों के सदृश पुरुषो के लिये ऐसे कार्य ही उचित हैं।' इस प्रकार उनके उत्साह की वृद्धि के लिये उन्हें सराहना, उपबृंहा करना है।

स्वीकार किये हुए सत्य-धर्म के पालन करने में विषाद करते हुए, यानी डावाडोल होते हुए पुरुष को स्थिर बनाना, इसका नाम स्थिरीकरण है। स्थिर करना, दो प्रकार से होता है। एक तो, धर्म से डिगनेवाले को उपदेश देकर स्थिर करना और दूसरा, असहाय को सहायता देकर स्थिर करना।

कोई यह कह सकता है, कि असहाय को सहायता देने में तो कई आरम्भ होना सम्भव है, परन्तु आरम्भ को समदृष्टि आरम्भ मानता है, तथापि सहायता के द्वारा जो पुरुष धर्म में स्थिर हुआ, वह तो महा-समकित का आचार ही है। उसमें कोई पाप नहीं, बल्कि धर्म है। किसी को स्थिर करना समकित का आचार है और ऐसा करने से धर्म की वृद्धि होती है।

वात्सल्य में, बड़ा गम्भीर विचार है। जैसे—एक श्रावक के लड़की हुई और उसने यह सोचा, कि 'इसका विवाह तो करना है, किन्तु इसका यदि किसी सहधर्मी से विवाह हो जाय तो अच्छा हो। क्योंकि, जो धर्म मिलना कठिन है और जिस-पर श्रद्धा होने से मुझे आलौकिक-आनन्द मिलता है, वैसा ही आनन्द इसे मिले और धर्म की ओर इसकी रुचि बढ़ती रहे।' यह वात्सल्य गुण है। कोई चीज बाजार से खरीदनी है, किन्तु वह सहधर्मी की ही दुकान से ली। अथवा एक नौकर रखना है, तो सहधर्मी को ही रखा और यह विचारा कि "यह

सहधर्मी है, अतः नौकर का नौकर हो जावेगा और धर्म सहयता भी मिलेगी।' यह वात्सल्यता है। इसीलिये विवाहादि सम्बन्ध मे भी, सहधर्मी-वात्सल्य का विचार हो सकता है। जहां भिन्न विचारनेवाले, भिन्न धर्मावलम्बी पति-पत्नी या स्वामी-सेवक होते हैं, वहां वहुधा विचारो की असमता होती है और उसका परिणाम किसी-किसी समय वड़ा भयङ्कर होता है। अतएव समान धर्मवाले से सम्बन्ध रखने में, समकितादि गुणो की वृद्धि होना सम्भव है। सारांश यह, कि अपने सहधर्मी मनुष्य को देखकर प्रेम हो और उसकी भात-पानी आदि से उचित सहायता की जावे, इसका नाम वात्सल्य है। यह भी समकित का आचार है।

वात्सल्यगुण बहुत बडा है। इसका जितना विचार किया जाय, उतना ही थोड़ा है।

अपने धर्म की उन्नति की चेष्टा में प्रवृत्ति होना, प्रभावना कहलाती है। अथवा यो कहना चाहिए, कि जिस कार्य के करने से जैन-धर्म देदीप्यमान हो, उसे प्रभावना कहते हैं।

सुना जाता है, कि पहले करोड़ो जैनी थे। ये लोग तलवार के बलपर या डरा धमकाकर जैनी नही बनाए गये थे, किन्तु उस समय के जैनियों के वात्सल्य और प्रभावना गुण से

प्रभावित होकर, अन्य-धर्मावलम्बी लोग भी जैन धर्मानुयायी होकर, जैन धर्म का पालन करने लगे थे। आज भी यदि जैन कहे जाने वाले भाई, अपने चरित्र को ऊँचा रखें और वात्सल्य तथा प्रभावना गुण को बढ़ावें, तो संसार पर जैन धर्म का प्रभाव अवश्यमेव पड़े। यदि जैनी भाई, अपने आचार-विचार को शुद्ध रखें और अन्य लोगों से सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करें, तो लोग निश्चित ही जैन-धर्म की ओर आकर्षित होंगे, जिससे तीर्थङ्करों का मार्ग दीपेगा। इसी वास्ते सूत्र टाणाङ्ग के चौथे ठाणे में कहा है, कि प्रवचन-प्रभावना के वास्ते, पात्र-अपात्र दोनो को दान देनेवाला दाता तीसरे भङ्ग का दातार है। इससे स्पष्ट है, कि अपात्र को दान देने से भी तीर्थङ्कर के मार्ग की प्रभावना होती है। अर्थात दान-पुण्य के प्रभाव से, अपात्र यानी सूत्र-चारित्र-धर्म से विहीन, जो सामान्य प्रकृति का मनुष्य है, उसे भी दान-यानी सहायता देकर जैन-धर्म का अनुयायी बनाना, तीर्थङ्कर के मार्ग को दिपाना है और तीर्थङ्कर के मार्ग को दिपाने का, शास्त्रों में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट फल यह बताया है, कि तीर्थङ्कर पद को प्राप्ति होती है। यह भी देखा जाता है, कि किसी अन्धे, लूले, लगडे, असहाय को पात्र का विचार न करके दान देने से, संसार पर जैन-धर्म का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव पडना भी, जैन-धर्म की प्रभावना है।

**य**



**र**

## हमारे कुछ प्रकाशन

Studies in Jaina Philosophy—
Dr. Nathmal Tatia, M.A., D Litt. Rs. 16/-

तत्त्वार्थ सूत्र—
पं० सुखलाल संघवी — साढ़े पाँच रुपया

Lord Mahavira—
Dr. Bool Chand, M.A., Ph.D. — Rs. 4/8

Hastinapura—
Amar Chand — Rs. 2/4

धर्म और समाज—
पं० सुखलाल संघवी — डेढ़ रुपया

Jainism—
Shri J. P Jain, M.A., LL.B. — Rs. 1/8

जैन ग्रन्थ व ग्रन्थकार—
श्री फतेहचन्द बेलानी — डेढ़ रुपया

जैन साहित्य की प्रगति १९४९—५१
पं० सुखलाल संघवी — आठ आना

निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय—
पं० सुखलाल संघवी — एक रुपया

गुजरात का जैन धर्म—
मुनि श्री जिनविजय जी — बारह आना

जैनागम—
पं० दलसुख मालवणिया — दस आना

विस्तृत सूचीपत्र के लिये लिखें:

*The Secretary,*
JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY,
BANARAS HINDU UNIVERSITY.

# हिन्दू, जैन और हरिजन मंदिर प्रवेश


लेखक

श्री पृथ्वीराज जैन एम्० ए, शास्त्री

श्री कोटावाला रिसर्च फेलो

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल


1949

Free to Members For Non Members—Annas Seven

# मण्डल की ओर से

## १. प्रस्तुत पत्रिका—

बम्बई सरकार ने जैनो को हिन्दूओं में समाविष्ट किया है तब से जैन हिन्दू है या नही इस प्रश्न को लेकर जैन पत्रो में बहुत दिनो से विवाद चल रहा है। किन्तु अभी तक किसी ने इस विषय में गवेषणापूर्वक लिखा नही। जैन सस्कृति सशोधन मण्डल के एक सदस्य ने इस विषय में कलम चलाई है और जहाँ तक बन पडा इस विषय में 'नामूल लिख्यते किञ्चित्' इस सिद्धान्त का पालन किया है। लेखक का निष्कर्ष है कि प्राचीन काल में हिन्दू शब्द का एक प्रदेश विशेष का निवासी इतना मात्र अर्थ था। किन्तु मध्यकाल में उक्त अर्थ के अतिरिक्त वैदिक या ब्राह्मणधर्म को माननेवाला यह अर्थ भी हिन्दू शब्द का हो गया क्योकि अधिकाश हिन्दू उसी धर्म को मानते थे। और अब वर्तमान में तो हिन्दू शब्द इसी दूसरे अर्थ में ही रूढ हो गया है। ऐसी स्थिति में जैन प्रचलित अर्थ में हिन्दू नहीं है।

यद्यपि हिन्दू शब्द के मूल अर्थ के अनुसार जैन हिन्दू हैं तथापि मूल अर्थ तो अब प्रचलित नही है अतएव लेखक ने सरकार से अनुरोध किया है कि इस विवाद को शान्त करने का यही उपाय है कि वह अपना अभिमत अर्थ पहले स्पष्ट करे। तब जैन हिन्दू है या नही इसका विचार हो सकता है। यदि वह साम्प्रत में रूढ अर्थ को ही मान्य करती है तब सरकार को चाहिए कि जब कभी ऐसे कानून बनाना हो जो जैनो पर भी लागू हो, तब हिन्दू और जैनो पर यह कानून लागू होगा ऐसी स्पष्ट घोषणा करनी चाहिए। और यदि वह हिन्दू शब्द का ऐसा ही अर्थ लेना चाहती है जिससे उसी में जैनो का भी समावेश हो तो सरकार को चाहिए कि वह सर्वसग्राहक एक व्याख्या बना ले और घोषित कर दें। लेखक के मत से श्रीसावरकर कृत व्याख्या ऐसी है जो सर्वमान्य हो सकती है।

यह विवाद वस्तुत: हरिजनो के मन्दिर प्रवेशाधिकार को लेकर ही खडा हुआ है। इस विषय में तो अब दो मत होना ही नही चाहिए। हरिजन जैन हो या न हो किन्तु जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्त के अनुसार, हमें यह अधिकार नहीं है कि हम किसी के भगवदाराधन में बाधा या अन्तराय उपस्थित करें। यदि हम ऐसा करते है तो मिथ्यादर्शन का ही पोषण करते है यह निश्चित है। "सभी जीव करूँ शासन रसी" यह हमारी नित्य की भावना है। उसका पालन हम हरिजनो के लिये मदिरो का द्वार खोल कर ही कर सकते हैं। द्वार बन्द करके तो अपना भी मोक्षमार्ग का द्वार बन्द करेंगे। इस विषय में लेखक का

# हिन्दू, जैन और हरिजनमन्दिरप्रवेश

लेखक–श्री पृथ्वीराज जैन एम० ए०, शास्त्री

*समस्या का रूप*

वम्बई सरकार ने १९४७ ई० में हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून स्वीकृत किया था। १९४८ ई० में उस में कुछ सशोधन किया गया और कानून का वह सशोधित रूप भी स्वीकार कर लिया गया। एक वर्ष से यह कानून बम्बई प्रान्त मे लागू है। इन कानूनों में जैनों को हिन्दुओं में ही गिना गया है। ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी और सिक्ख इस कानून की मर्यादा मे नहीं आते। इस विषय में जैन समाज में एक जबरदस्त आन्दोलन खड़ा हुआ। एक पक्ष के कुछ लोगों का कहना है कि जैन समाज व जैनधर्म हिन्दू समाज व हिन्दूधर्म से भिन्न नहीं। जैनधर्म प्राणीमात्र की समता में विश्वास रखता है अत मानव मानव में उत्पन्न की गई भेदरेखा को वह स्वीकृत नहीं करता। उसके द्वार सबके लिए खुले हैं। दूसरे पक्ष की ओर से यह कहा गया कि जैनधर्म हिन्दूधर्म से सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है, जैन समाज में हरिजन समस्या है ही नहीं, हरिजन जैन-धर्म में विश्वास नहीं रखते अत हिन्दू मन्दिरों के लिए बनाया गया कानून जैनों पर लागू करना राष्ट्रीय सरकार की ज्यादती है और हमारे धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप है। दिगम्बर आचार्य श्री शान्ति सागर जी ने तो इस कानून के विरोध स्वरूप ता० ४–८–१९४८ से अन्न का त्याग किया हुआ है। जैन समाज के एक अङ्ग द्वारा उठाई गई आपत्तियों का उत्तर वम्बई सरकार ने १९–८–४९ की अपनी विज्ञप्ति में दिया है। उस विज्ञप्ति से भी विरोधी पक्ष को सन्तोष नहीं हुआ है। जैन पत्रों में इस सम्बन्ध में पक्ष अथवा विपक्ष में काफी लेख प्रकाशित हुए हैं। हमें भी इस समस्या पर विविध दृष्टिकोणों से विचार कर यह निर्णय करना है कि जैन हिन्दू हैं या नहीं।

*भ्रामक दृष्टिकोण*

अब तक प्राय जैन पत्रों में इस विषय पर जो कुछ लिखा गया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि समस्या को वास्तविक रूप में समझने का यथोचित प्रयत्न नहीं किया गया। जो लोग कानून के पक्ष में हैं अथवा हरिजनों

को जैन धार्मिक स्थानो में आने की इजाजत देने के समर्थक हैं, उनमे से कुछ ने इस समर्थन के आवेश में सम्भवत: यह विचार करने का कष्ट नहीं किया कि क्या जैनधर्म हिन्दूधर्म में ही समाविष्ट है ? इसके लिए हिन्दू शब्द के प्राचीन व अर्वाचीन अर्थ का स्पष्टीकरण अनिवार्य हैं। दूसरी ओर इस कानून के विरोधियो ने जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है, यह आड लेकर इस बात की उपेक्षा कर दी है कि हरिजनो के जैन मन्दिरों में प्रवेश का निषेध करके हम जैनधर्म के ही मूल सिद्धातों का भ्रामक रूप जनता के सामने उपस्थित कर रहे हैं। मैं समझता हूँ कि दानों पक्षों को समस्या का विश्लेषण कर उसका हल निकालना चाहिए। पहले हम यह विचार करें कि जैन हिन्दुओं में सम्मिलित हैं या नही। तत्पश्चात् यह तय करें कि जैन धर्मस्थानों में जा कर हरिजनों को भगवदाराधना करने का जैन दृष्टिकोण से अधिकार है अथवा नही। प्रस्तुत लेख में इन्हीं बातो को मुख्यत लक्ष्य में रख कर इस समस्या पर विचार किया जायगा।

*हिन्दू शब्द का इतिहास*

इस तथ्य को ता सभी स्वीकार करते हैं कि जिस हिन्दू शब्द से आज हमे इतना मोह है या जिस पर हमें इतना गर्व है वह शब्द इस रूप मे हमारे देश की प्राचीन भाषाओ में नही पाया जाता। हमारे विदेशी पड़ोसियों ने हमें यह नाम प्रदान किया था। पारसियों के पवित्र धर्म ग्रन्थ जिन्दावस्ता के वेन्दीदाद ( Vendidād ) के प्रथम अध्याय में उन देशों के नामों का उल्लेख है जिन्हें अहुरमज़दा ने बनाया था। उनमे १५ वा नाम 'हसहिन्दु' है जिसका तात्पर्य सात नदियों के प्रदेश से है। ऋग्वेद मण्डल ८ सू० २४ म० २७ में 'सप्तसिंधुषु' यह शब्द आया है। वहा इन्द्र के विषय में कहा गया है कि वह सात नदियों की भूमि में रहने वालो को समृद्ध करता है। 'सप्तसिंधु' व 'हसहिंदु' का साम्य स्पष्ट ही है। इतिहास इस बात का साक्षी हैं कि ईरान वालो से भारतीय आर्यो का सम्बन्ध अति प्राचीनकाल में भी था। ऐसा मालूम होता है कि दोनों के पूर्वज कभी एक ही स्थान मे रहते थे। बाद मे परिस्थितियों से बाध्य होकर अलग अलग स्थानों मे बस गए। ज़िन्दावस्ता तथा ऋग्वेद की भाषा मे पर्याप्त साम्य है। देवताओ के नाम व स्वरूप के विषय मे भी कई दृष्टिकोणों से एकरूपता है। इस विषय मे अधिकारी विद्वानो ने काफी छानबीन की है।[1]

---

[1] देखें— Cambridge History of India पृ० ३१९-३०४

ईरानी सम्राट साइरस (५५८ से ५३० ई० पू०) ने भारत के किसी प्रदेश पर आक्रमण किया था नहीं, यह निश्चय रूप से कहना कठिन है। हा, यह निश्चित है कि वर्तमान अफगानिस्तान और बिलोचिस्तान की सीमा तक उसकी सेनाएँ अवश्य पहुँची थीं। हिन्दूकुश व काबुल की घाटी में रहनेवाली कुछ जातियों को उसने अपने आधीन किया था। सम्राट् डेरियस (५२२ से ४८६ ई० पू०) सिंध तक बढा, यह ऐतिहासिक घटना सर्वसम्मत है। उसके समय के शिलालेख उपलब्ध हुए हैं जिनमें उसके द्वारा विजित देशों के नामा का वर्णन है। उन नामों में 'हि (न) दु' भी है जिससे अभिप्राय पजाब का है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि यूनानी इतिहासकार हैरोडोटस् ने ईरानी साम्राज्य के २० प्रान्तों में हिन्द का नाम भी गिनाया है। उसका ता यह भा कहना है कि हिन्द की जनसख्या बहुत है और इस प्रान्त से ईरानी सम्राट् को सबसे अधिक आय हाती है।

इससे सिद्ध हुआ कि सिन्धु नदी तथा उसकी अन्य सहायक नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश में रहने के कारण भारत के लागों का पारसी 'हिन्दु' या 'हिदु' कहा करते थे। उनकी भाषा में सस्कृत का 'स' 'ह' हो जाता है जैसा कि सोम =होम, सस = हस असुर = अहुर आदि शब्दों से प्रगट है। यहूदी भारत निवासियों को 'हाण्डु[1]' कहते थे। फारसी भाषा में हिन्द शब्द भा है जिससे हिन्दी बना है। उसका अर्थ भी हिन्द का निवासी हैं। यद्यपि बाहर के लोग भारतीयों को हिन्दू नाम से पुकारते थे तथापि भारतीय अपने को आर्य ही कहा करते थे। ईसा की सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग ने अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि "उत्तरीय जातिया अर्थात् मध्य एशिया के लोग भारतवर्प का हिन्दू कहते हैं किन्तु यह प्रचलित नाम नहीं है .... भारत के लिए उपयुक्त नाम तो आर्य देश है।"[2]

### 'हिन्दू' का व्यापक अर्थ में प्रयोग

इत्सिंग के कथन से यह स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी तक भारत वर्प के भीतर हिन्दू शब्द का व्यवहार प्राय नहीं होता था। मुसलमान आक्रमणकारियों ने भी सिन्धु को हिन्दु कहा और हमारे देश का नाम हिन्दोस्तान या हिन्दुस्तान रखा। ये दानो शब्द फारसी भाषा के हैं। मुसलमानों से भारतीयों का संपर्क बढता गया

---

1–The Hindu History P.2 (Mazumdar)

2–Discovery of India P 72

और धीरे धीरे यहाँ मुस्लिम राज्य की स्थापना हो गई। उस समय हमारे देश में वैदिक या ब्राह्मण, जैन और बौद्ध, ये तीनों भारतीय तथा आर्य धर्म की शाखाएं विकसित रूप में थीं। मुसलमानो के लिए तो तीनों ही काफिर थे। उन्होंने अपनी पृथक् सत्ता कायम रखने के लिए यहा के सभी निवासियों को हिन्दू कहना शुरू किया। अब हम लोग भी अपने को हिन्दू समझने और कहने लगे। उस समय यह नाम निस्सदेह भौगोलिक था। दास वश की स्थापना के समय से ही बौद्धों का तो यहा से लोप हो गया। मुस्लिम सेनापतियों ने बौद्ध विहारों को नष्ट भ्रष्ट कर डाला और बचे हुए भिक्षु एशिया के उन देशों और द्वीपों की ओर चले गये जहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था। बौद्ध गृहस्थो की सख्या नगण्य ही थी। जैनों की सख्या भी अधिक न थी और जैन गृहस्थों का सामाजिक जीवन प्राय. वैदिक धर्मानुयायिओं के समान ही था। अत वे उनमें ही घुले मिले रहे। फारसी में हिन्दु शब्द के अर्थ 'डाकू' 'सेवक' 'दास' 'नास्तिक' 'पहरेदार' भी किये गये हैं जो पश्चिमोत्तरी सीमा पर हिन्दवासियो व मुसलमानो के सघर्ष के द्योतक हैं। कभी कभी यहाँ के लोग भी मुसलमानों पर आक्रमण कर उनकी सपत्ति लूट लाते थे अत उन्हें डाकू कहा गया। जब वे मुसलमानों के अधीन हो गए तो उन्होने कुछ हिन्दियो को दास बना लिया, कुछ को सीमा की रक्षा के लिए पहरेदार नियुक्त किया। चूकि उनके धार्मिक विचार व आचार मुसलमानो से भिन्न थे अतः उन्हें काफिर कहा गया। फारसी में डाकू या सेवक आदि के लिए हिन्दू शब्द नहीं, हाँ हिन्दू को इन नामो से भी कहा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये शब्द ऐतिहासिक घटनाओ से ही सबधित हैं।[१] मुस्लिम काल से ही हिन्दू शब्द का इस देश में व्यापक उपयोग होने लगा है।

### *भारतीय साहित्य में हिन्दू शब्द*

प्राचीन सस्कृत व प्राकृत कोषो में 'हिन्दू' शब्द दृष्टिगोचर नहीं होता। रामदास गौड़ लिखते हैं कि सर्वप्रथम 'मेरुतन्त्र' में यह शब्द देखने में आता है। वहाँ इसकी व्युत्पत्ति की गई है "हीन च दूषयत्येव हिन्दूरित्युच्यते"। प० जवाहरलाल नेहरू लिखते है कि "यह ग्रन्थ आठवीं शताब्दी का बताया जाता है और वहाँ हिन्दू का अर्थ किसी विशेष धर्म का अनुयायी न होकर एक जाति या समाज के सभी मनुष्यों से है।"[२] एक विचित्र बात तो यह है कि मेरुतत्र के २३ वें पटल में जहाँ हिन्दू शब्द का उल्लेख है, वहाँ अग्रेज, फरगी, लंडन आदि शब्द

---

१–देखो 'हिन्दुत्व' (रामदास गौड)
2–Discovery of India P.72.

भी हैं। बताया गया है कि अंग्रेज, लंडन शहर व शाह (मुसलमान बादशाह या सुलतान) हिन्दू धर्म का विलोप करने वाले हैं। अत इन श्लोकों को किसी भी दशा में प्राचीन नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजों के आने के बाद ये उस ग्रन्थ में लिख दिये गये हैं।

'प्राकृत पैंगल' प्राकृत छन्द शास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसका समय भी निश्चित नहीं किन्तु उसमें तुर्कों और हिन्दुओं के युद्धों का वर्णन है। मुस्लिम काल से सम्बधित कई शब्द उसमें पाये जाते हैं। राणा हमीर का नाम भी उसमें वर्णित है अत इस ग्रन्थ के बहुत से अंश भी तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी अथवा इसके बाद के मानने होंगे। इस ग्रन्थ में झुल्लन छद का उदाहरण देते हुए श्लोक १५७ में 'हिंदू[१]' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ हिन्दू है। श्लोक का तात्पर्य यह है "हजारों मदोन्मत्त गज तथा लाखों घोड़ों को बार-बाण से अवगुण्ठित कर तय्यार हो दो बादशाह गेंद खेलते हैं। हे प्रिय, तुम वहाँ प्रकुपित होकर जाओ, पृथ्वी पर अपना यश स्थापित करो, तुम्हें कोई भी तुरुष्क या हिन्दू नहीं जीतेगा।"

## फलितार्थ

इतनी चर्चा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि मूल रूप में हिन्दू शब्द किसी विशेष धर्म, सम्प्रदाय या जाति का वाचक नहीं हैं। जिन्दावस्ता में पाये जाने के कारण शब्द की प्राचीनता स्वत सिद्ध है। इस शब्द का व्यवहार सिंधु तथा उससे सम्बधित नदियों द्वारा सिंचित भूभाग व उसके निवासियों के लिए किया गया। विदेशी लाग भारत के रहने वालों को इस नाम से पुकारते थे और मुसल्मानों के आगमन के पूर्व यह शब्द भारत के भीतर प्रचलित न था। मुसल्मानो ने इस शब्द का व्यापक प्रयोग किया और उनकी दृष्टि में उस समय में हिन्द में रहने वाले ब्राह्मण धर्मानुयायी, बौद्ध और जैन सभी हिन्दू ही थे। जजिया कर लगाने धर्मस्थानों व धार्मिक ग्रन्थो को नष्ट करने या जलाने में मुसलमानों ने तीनो में कोई भेदभाव नहीं रखा। उनके लिए सभी काफिर थे, क्योंकि हिन्द में रहने वाले खुदा और उसके पैगम्बर हजरत मुहम्मद पर विश्वास नहीं रखते थे। इस प्रकार हिन्दू वस्तुत शुद्ध भौगोलिक शब्द है। कहते हैं कि

---

१—सम्भव है कि किसी प्रति में हिन्दू शब्द ही लिखा हो और बाद में उसकी नकल करते हुए लिपि दोष के कारण 'हिंदू' पढा गया हो।

मक्के मदीने में भारतीय मुसलमानों को भी जाति के कोष्ठक में हिन्दू या हिन्दी लिखा जाता है और अमेरिका वाले सभी भारतीयों को हिन्दू कहते हैं।

## जैनों का सामाजिक जीवन

जैनधर्म कितना ही प्राचीन हो और जैन संस्कृति का ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति से कई बातों में स्पष्ट भेद भले ही हस्तामलकवत् प्रतीत होता हो तो भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जैनों के सामाजिक जीवन में वैदिक धर्म का गहरा और व्यापक प्रभाव है। जैन समाज के सामान्य जीवन व्यवहार में कोई ऐसी विशेष बात अब तक नजर में नहीं आई जो उसे वैदिक धर्मवालों से पृथक् करती हो। जैनों की विवाह शादियों में ब्राह्मण पुरोहित वैदिक विधि से लग्न कराते हैं। जैन मन्दिरों में ब्राह्मण पुजारी पूजा सेवा का कार्य करते हैं। जैनों और वैदिक धर्मवालों में वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रचलित हैं। जाति भेद से उत्पन्न ऊँचनीच भाव, अस्पृश्यता का भाव, सांसारिक धन्धों के लिए कई प्रकार के देवी देवताओं की मान्यता, जादू टोना आदि में विश्वास, बहुत से ब्राह्मण त्योहारों का मानना, (तमाशा यह है कि जैन पाक्षिक प्रतिक्रमण करते समय सम्यक्त्व के अतिचारों में वैदिक देवताओं व त्योहारों की मान्यताओं को मिथ्यात्व भी गिनते हैं किन्तु रोजमर्रा के व्यवहार में पालन भी करते जाते हैं) इत्यादि ऐसी बातें हैं जो जैनों के सामाजिक जीवन में भी प्रायः उसी रूप में विद्यमान हैं जिस रूप में ब्राह्मण धर्म के मानने वालों में। जैनों के विशेष अन्त्येष्टि संस्कार भी नहीं हैं।

ने सामाजिक जीवन में वैदिक धर्म से भिन्न किसी प्रकार की मौलिकता का आश्रय नहीं लिया, यद्यपि वे सरलता से ऐसा करके वैदिक धर्म के सामाजिक दोषों से विशेषत जातिभेद व अस्पृश्यता के कलङ्क से बच सकते थे।

हिन्दू कानून व जैन

सर मुल्ला के[1] Principles of Hindu Law में पृ० ५-६ पर यह बताया गया है कि हिन्दू कानून किन २ व्यक्तियो पर लागू होता है। उसमें (IV) क्रम पर लिखा है कि 'रिवाज के कारण कानून से भिन्नता होने के अपवाद को छोड़ कर जैनो, सिक्खों और नबुदरी ब्राह्मणों पर।" पृष्ठ ६१३ पर भी उल्लेख है कि 'हिन्दू कानून से भिन्न विशेष रीति रिवाज और व्यवहार के सबूत के अभाव में आम हिन्दू कानून जैनों पर लागू होता है।' इससे यह निश्चित हो जाता है कि कुछ अपवादों के साथ हिन्दू कानून जैनों और सिक्खों पर लागू होता है। जैनों के लिए ऐसे अपवाद उत्तराधिकार, विधवा की सम्पत्ति, पुत्र गोद लेने के लिए विधवा का अधिकार, अनाथ बच्चे का गोद लिया जाना तथा गोद लेने की विधि आदि के सम्बन्ध में हैं।

पृष्ठ ६३३ पर ब्राह्मण धर्म से जैनधर्म का भेद बताते हुए सर मुल्ला लिखते हैं, "धर्म के सबध में जैनो की स्थिति बुद्ध और ब्रह्म को मानने वालों के बीच की है। वे वेदों को धार्मिक ग्रन्थ नहीं मानते, अन्त्येष्टि क्रिया सबधी ब्राह्मण धर्म के सिद्धान्त, श्राद्ध और मृत पुरुषों को आत्मा का मुक्ति के लिए पिण्डदान देना स्वीकार नहीं करते। उनका यह भी विश्वास नहीं कि जात अथवा गोद लिया हुआ पुत्र पिता का आध्यात्मिक हित सपादन करता है। मृतकों से सबधित विधि विधान के विषय में भी ब्राह्मण धर्म से उनका मतभेद है। शव के जलाए

---

१ विशेष—इसी पुस्तक में पृष्ठ ६३३ पर जैनो के विषय में एक अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण उल्लेख है। आश्चर्य यह है कि विद्वान् लेखक ने किस आधार पर ऐसा लिखा है। सभवत उन्होंने किसी अधिकारी विद्वान् की पुस्तक नहीं देखी, सहस्रो वर्ष के जैन इतिहास का सारांश दो तीन पक्तियो में देते हुए वे लिखते हैं, "ऐसा प्रतीत होता है कि छठी या सातवी शताब्दी में जैनो का प्रादुर्भाव हुआ, आठवी या नवी शताब्दी में लोग उन्हें जानने लगे, ११वी शताब्दी में उनकी अत्यन्त समृद्धि हुई और १२वी शताब्दी के बाद उनका पतन हो गया।"

या गाडे जाने के बाद वे किसी प्रकार की अन्य अन्त्येष्टि क्रिया नहीं करते। फिर भी उनमें कुछ जातियाँ हैं जो आज भी हिन्दू रीति रिवाजों को मानती हैं और मृतको के मासिक, षाण्मासिक या वार्षिक श्राद्ध करती हैं।' ' जातिभेद आदि अन्य विषयो में जैन हिन्दुओ से सहमत हैं।''

*जैनों पर हिन्दू कानून लागू न होना चाहिए*

क्या कभी आज से पहले यह आवाज उठाई गई कि जैनो पर हिन्दू कानून लागू न किया जावे ? इस विषय में Principles of Hindu Law के पृष्ठ ६३४ पर एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। मद्रास में १९२७ ई० में एक मुकद्दमे में यह प्रश्न पैदा हुआ कि क्या एक जैन विधवा को अपने पति की अधिकृत आज्ञा के अभाव में पुत्र गोद लेने का अधिकार है। उस समय कुमारस्वामी शास्त्री Ag C J. ने कहा, " · मैं यह मानने के लिए बाध्य हूँ कि आधुनिक अनुसधान ने सिद्ध कर दिया है कि जैन विचारभेद के कारण हिन्दुओं से अलग हुए हों, ऐसी बात नहीं है। जैनधर्म का प्रादुर्भाव तथा इतिहास उन स्मृतियों तथा स्मृतियो की टीकाओ से अत्यन्त प्राचीन है. जिन्हें हिन्दू कानून और रीति रिवाज के सबध में अधिकृत समझा जाता है।·····'वस्तुत जैनधर्म वेदो के प्रमाण को स्वीकार नहीं करता और वेद हिन्दू धर्म के मूल स्तम्भ हैं। बहुत से क्रियाकाण्ड जिन्हे हिन्दू आवश्यक समझते हैं, जैनधर्म उनकी फल-दायिनी शक्ति को अस्वीकार करता है। जहा तक जैन कानून का सबध है, जैनों के निजी कानून सबधी ग्रन्थ हैं जिनमें भद्रबाहु सहिता विशेष महत्त्व रखती है। जैनाचार्य हेमचन्द्र की वर्धमान नीति तथा अर्हन्नीति में भी जैन कानून का प्रतिपादन है। इसमें सन्देह नही कि जनगणना में अत्यधिक सख्या वाले हिन्दुओं के चिरकालीन सहवास से जैनधर्म ने हिन्दुओ के बहुत से सस्कारो और रीति रिवाजों को अपना लिया है, किन्तु इस आधार पर विज्ञानेश्वर तथा अन्य टीका-कारों द्वारा विकसित हिन्दू कानून को सम्पूर्णत जैनों पर लागू करना उचित नहीं जब कि ये टीकाएँ जैनधर्म के निजी धार्मिक संस्कारो तथा विधि विधान सहित स्वतत्र और पृथक् रूप से अस्तित्व में आने के समय से कई शताब्दियो बाद लिखी गई। जैनो पर यह जवाबदेही डालना भी अनुचित है कि वे जैन कानून निर्माताओं द्वारा प्रतिपादित कानून से बँधे हुए नहीं हैं।''

इस कथन से प्रगट होता है कि जैनो ने सामाजिक जीवन मे अपनी पृथक् सत्ता कायम नही की और न जैन कानून के अनुसार न्याय किए जाने पर कभी

ज़ोर दिया। हमें मानना होगा कि या तो जैनों की इस ओर उपेक्षा रही कि उन पर कौन सा कानून लागू किया जाता है अथवा वैदिक विधि विधान और स्मृतियों का इतना प्राबल्य था कि जैन अधिकतर उसके प्रभाव में आ गए और कुछ छोटी छोटी बातों को छोड़ कर हिन्दुओं के सामाजिक आचार के अनुसार उन्होंने अपना जीवन ढाल लिया। तब भी यह निश्चित है कि जैनाचार्य इस पक्ष में न थे कि श्रुति स्मृति के आधार पर बने विधान जैनो पर आरोपित हों। जैन समाज संभवत इस स्थिति को समझने या कई कारणों से इसे कार्य रूप में परिणत करने में असमर्थ रही। परिणाम स्वरूप जैन कानून व्यवहृत नहीं हुआ और न उसका विकास ही हो सका। वैदिक, धर्म तथा जातिभेद का जैनधर्म ने विरोध किया था परन्तु वेदों के आधार पर ही बनाए गए कानून कायदे जैनलोग स्वीकार करते रहे। अन्ततो गत्वा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राज्यकाल में जब हिन्दू कानून व मुसलिम कानून का सग्रह हुआ तो जैनों पर हिन्दू कानून ही लागू होने लगा।

*हिन्दू शब्द का प्रचलित सकुचित अर्थ*

हम हिन्दू शब्द के इतिहास पर विचार करते हुए यह देख चुके हैं कि किस प्रकार विदेशियो द्वारा प्रयुक्त एक भौगोलिक शब्द मुसलिम राज्य काल में भारतवर्ष या आर्य देश के भीतर भी व्यवहार में प्रचलित हो गया। प्रारभ में तो ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध इन तीनों धर्मों के मानने वालो के लिए इस शब्द का उपयोग किया गया। बौद्धों का तो भारत में ह्रास हो गया। जैनों की संख्या विशेष न थी और न उनका सामाजिक जीवन ही कोई ऐसी विशेषता लिए हुए था कि उन्हें ब्राह्मण धर्म मानने वालो से अलग समझा जा सकता। जैनों ने अपने अलग कानून को अपनाया हो यह भी कहना कठिन है। इन सब बातो का नतीजा यह निकला कि 'हिन्दू' शब्द वैदिक अथवा ब्राह्मण धर्म के अनुयायियो के लिए रूढ होता गया और इसी अर्थ में इसकी इतनी प्रसिद्धि हो गई कि मूल अर्थ लुप्त प्राय हो गया। जैन भी अपने जीवन में अधिकतर वैदिक धर्म वालों जैसे ही आचार पालते थे। किसी किसी बात में अन्तर भी था। इस आम लोग जैनो को वैदिक धर्मावलम्बियों की एक शाखा ही समझने लगे और जैनधर्म को वैदिकधर्म का एक अग या सुधरा हुआ रूप[1] जो कुछ बातों में मतभेद के कारण पृथक् नाम से कहा जाने लगा। मेरे विचार में यदि

---

१ 'सर्वोदय' सितम्बर ४९ पृ० १२० (विनोबा)

जन गणना में हिन्दू, जैन, ईसाई, मुसलमान, सिक्ख इत्यादि भिन्न भिन्न धर्मों के अलग अलग कोष्ठक न होते तो सम्भवत. जैन और सिक्ख कभी यह विचार ही न कर सकते कि हम वैदिक मतवालों से पृथक् हैं। आज हिन्दू शब्द के सकुचित अर्थ का ही अधिक प्रचलन है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दकोश तथा विश्वकोश ( Encyclopaedias ) हैं। उनके कुछ उद्धरण यहा दिये जाते है .—

'हिन्दी विश्वकोश' २५ वा भाग, पृ० ७९–८०, "हिन्दू (स० पु०) आर्यावर्त्तवासी वर्णाश्रम धर्मी।···मुसलमान तथा दूसरी विदेशी और अनार्य जातियों को छोड़ भारतवासी मात्र ही हिन्दू कहलाते हैं।·· वर्तमानकाल में भारतवासी आर्य सन्तान जैन व बौद्ध गण यद्यपि अपने को हिन्दू नहीं बतलाते फिर भी मुसलमानी अमल में वे हिन्दू कह कर ही अपना परिचय देते थे। अभी आर्य शब्द की तरह हिन्दू शब्द भी पारिभाषिक हो रहा है। जो वेद अथवा वेदोदित धर्म ग्रन्थ और परलोक पर विश्वास करते हैं तथा गोमास छूते तक भी नहीं, वे ही आजकल कट्टर हिन्दू कहल ते हैं।"

'हिन्दी शब्दसागर' ४ था भाग पृ०३८१४' 'हिन्दू (स० पु०) (फा) भारत वर्ष में बसने वाली आर्य जाति के वशज जो भारत में प्रवर्तित या पल्लवित आर्य धर्म, सस्कार और समाज व्यवस्था को मानते चले आ रहे हो। वेद, स्मृति, पुराण आदि इनमें से किसी एक के अनुसार चलने वाला। भारतीय आर्य-धर्म का अनुयायी।"

Chamber's T. C. Dictionary : "Hindu –a native of Hindustan now more properly applied to native Indian believers in Brahmanism as opposed to Mohammedans and &c" ( हिन्दुस्तान का निवासी। आजकल अधिकतर भारत के ऐसे निवासियो के लिए प्रयुक्त होता है जो मुसलमान तथा अन्य से सर्वथा भिन्न ब्राह्मण-धर्म मे विश्वास रखते हैं।"

Encyclopaedia Britannica Vol. XI p. 570 From Persian 'Hind' is derived another word 'Hindi' which means 'of or belonging to India' while 'Hindu' now means 'a person of the Hindu Religion' ( फारसी के हिन्द शब्द से एक अन्य शब्द 'हिन्दी' बना है जिसका अर्थ हिन्दुस्तान का निवासी है जब कि हिन्दू का अर्थ आजकल हिन्दू धर्मावलम्बी है। ) इसी भाग मे पृष्ठ ५७७ से हिन्दूधर्म का वर्णन है जिसके अन्तर्गत वैदिक या ब्राह्मण धर्म की रूप रेखा है।

Ency of Religion and Ethics Vol VI, p 686 'Hinduism is the title applied to that form of religion which prevails among the vast majority of the present population of the Indian Empire Brahmanism (q v) which is the term generally used to designate the higher and more philosophical form of modern Hinduism is more properly restricted to that development of the faith which under Brahman influence, succeeded to Vedism or the animistic worship of the greater powers of Nature' (हिन्दूधर्म वह धर्म है जो भारतीय साम्राज्य की वर्तमान जनता के एक अत्यधिक विशाल भाग में प्रचलित है। आधुनिक हिन्दूधर्म के अधिक उन्नत और दार्शनिक रूप का प्रदर्शित करने के लिए 'ब्राह्मण धर्म' यह शब्द व्यवहृत है। यह शब्द (ब्राह्मणधर्म) अधिकतर धर्म के उस विकास तक मर्यादित है जो ब्राह्मणों के प्रभाव से वैदिक धर्म अथवा प्रकृति की महान् शक्तियों में चेतना का आरोप कर पूजा करने की रीति के बाद प्रगट हुआ)

'अभिधानराजेन्द्र' —'हिंदु हिंदु–पु० "व्यवहार से हिन्दु शब्द देशवाचक होने पर भी उस देश में रहने वाले आर्य मनुष्यों का वाचक बन गया। क्रमशः इस देश में प्रसिद्ध वेद के आधार पर बने हुए आगमों का अनुसरण करनेवालों का बोध हिन्दु शब्द से होने लगा।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कोशकार हिन्दू को आर्यावर्त निवासी या आर्यधर्म का अनुयायी भी लिखते हैं और साथ ही साथ वैदिक, ब्राह्मण अथवा श्रुति, स्मृति पर आधारित धार्मिक परम्पराओं का मानने वाला भी। ऐसी स्थिति में जैनों को विचार करना चाहिए कि क्या वे हिन्दू कहला कर वर्णाश्रम धर्मी कहलाना उचित समझेंगे। हिन्दू की यह परिभाषा अत्यधिक प्रचार में आ चुकी है। बड़े बड़े विद्वान् व नेता भी कई स्थानों में इसी अर्थ को महत्त्व देते हैं। डा० राधाकृष्णन्[१] लिखते हैं, "हमारे लिए हिन्दू वह व्यक्ति है जो अपने जीवन और आचार में किसी भी ऐसी धार्मिक परम्परा का पालन करता है जो वेदों के आधार पर भारत में विकसित हुई। हिन्दू माता पिता से जन्म लेने वाले ही नहीं अपितु ऐसे व्यक्ति भी हिन्दू हैं जो मातृ या पितृ पक्ष से हिन्दू कुल परम्परा

---

१ Religion & Society P 137

के हैं और ईसाई अथवा मुसलमान नहीं।" (A Hindu for our purposes, is one who adopts in his life and conduct any of the religious traditions developed in India on the basis of the Vedas Not only those who are born of Hindu parents, but those who trace Hindu ancestory on either side and do not belong to Islam or Christianity, are Hindus")

महात्मा गाधी एक स्थान पर लिखते है,[1] "मेरी मान्यता है कि जो मनुष्य हिन्दुस्तान में हिन्दू कुल मे जन्म लेकर वेद, उपनिषद्, पुराणादि ग्रन्थो को धर्म ग्रन्थ के रूप में मानता है, जो मनुष्य अहिंसा, सत्यादि पाच यमों में श्रद्धा रखता है और उन्हें यथाशक्ति पालता है, जो मनुष्य आत्मा है, परमात्मा है, आत्मा अजर अमर है, फिर भी देहाध्यास से ससार में अनेक योनियो में आया करता है, आत्मा का मोक्ष हैं, मोक्ष परम पुरुषार्थ है, ऐसा मानता है, जो वर्णाश्रम व गोरक्षा को मानता है वह हिन्दू है।"

प० जवाहरलाल नेहरू का स्पष्ट मत है कि आज कल हिन्दू शब्द सकुचित अर्थ को प्रगट करता है। वे लिखते हैं,[2] "मैं नहीं समझता कि इन शब्दों को (हिन्दूधर्म व हिन्दू प्रभावित) इस तरह से प्रयुक्त करना उचित है जब तक कि उनका व्यवहार भारतीय सस्कृति के अति व्यापक अर्थ में नहीं किया जाता। आज इन शब्दो से भ्राति हो सकती है जब कि इनका सम्बन्ध अधिक सकुचित और विशिष्ट धार्मिक विचारो से है।··· भारत में धर्म के लिए सर्व समावेशक शब्द आर्य धर्म था।" आगे चलकर पृ० ७३ पर पण्डित जी का कहना है, 'बौद्धधर्म व जैनधर्म निश्चय पूर्वक हिन्दूधर्म नहीं थे और न वे वैदिकधर्म ही थे। तो भी उनका उदय भारतवर्ष में हुआ और वे भारतीय जीवन, सस्कृति व तत्त्वज्ञान के अखण्ड अश थे। भारतवर्ष का जैन या बौद्ध भारतीय विचारधारा तथा संस्कृति का शत प्रति शत परिणाम है तो भी दोनो में कोई भी हिन्दूधर्म का नहीं। अतः भारतीय सस्कृति को हिन्दू सस्कृति कहना नितात भ्रामक है।"

पण्डित जी के शब्दो का यही तात्पर्य मालूम होता है कि बौद्ध और जैन पूर्णतः भारतीय हैं परन्तु उन्हें हिन्दूधर्म मे नहीं गिन सकते। आज कल हिन्दू धर्म का अर्थ इतना मर्यादित हो गया है कि वह ब्राह्मण या वैदिक धर्म का पर्याय-

---

१ धर्म मन्थन (गुजराती) पृ० १५। २ Discovery of India P 72

वाची सा हो गया है। हिन्दू शब्द के मूलार्थ के आधार पर जैन, बौद्ध व बाद में सिक्ख भी हिन्दू कहलाए। उधर हिन्दू शब्द का अर्थ सीमित हो गया। फलस्वरुप इन सब को हिन्दुओं का सुधारक समझा गया। जैन धर्म एक सर्वथा स्वतन्त्र व प्राचीन धारा का प्रतीक है, यह बात मानने में आज कई विद्वानों को संकोच होता है।

### क्या सिक्ख हिन्दू हैं?

प्रसंगवश यह चर्चा भी लाभप्रद होगी कि सिक्ख हिन्दू हैं या नहीं। सिक्खों के प्रथम गुरु श्री नानक देव जी १४ वीं शताब्दी में हुए। उनका उपदेश हिंदू व मुसलमान दोनों के लिए था। फिर भी उनके अधिकतर अनुयायी हिन्दू बने। गुरु नानक देव जी ने भी जाति पाँति का जबरदस्त विरोध किया और सब में एकता का मन्त्र फूँका। वैदिक क्रियाकाण्ड व बाह्याडम्बर के स्थान पर वे चित्त की शुद्धि पर अधिक जोर देते थे और अकाल पुरुष की भक्ति में लीन हो जाने का अनुरोध करते थे। 'माटी एक सकल संसारा। बहु विधि भाण्डे कढे कुम्हारा॥' यह गुरु की वाणी है। गुरु गोविन्द जी कहते हैं —

> "हिन्दू औ तुरक कोऊ राफजी इमाम साफी
> मानस की जाति सभै एकै पहिचानबौ।
> देहुरा मसीत सोई पूजा औ निमाज ओही,
> मानस सभै एक पै अनेक को प्रभाओ है॥
> देवता अदेव जक्ष गन्धर्व तुरक हिन्दू,
> न्यारे न्यारे देशन के भेस को सुभाओ है।
> एकै नैन एकै कान एकै देह एकै बान,
> खाक[1] बाद[2] आतिश[3] औ आब[4] को रलाओ[5] है॥

मुझे अपने एक सिक्ख मित्र से मालूम हुआ है कि ब्राह्मण धर्म के जातिवाद के प्रभाव से सिक्ख भी नहीं बच सके। उनके सामाजिक जीवन में इसका स्थान बराबर बना हुआ है। सिक्ख हरिजन मजहबी सिक्ख कहलाते हैं। हमारी विधान परिषद् यह स्वीकार कर चुकी है कि अन्य हरिजनों की भांति सिक्ख हरिजनों के स्थान भी धारासभाओं में सुरक्षित रखे जायँ। किन्तु आज जब हिन्दू का अर्थ वेदधर्मावलम्बी रह गया है, सिक्ख भी अपने को हिन्दू कहने के लिए तय्यार नहीं। लगभग २० वर्ष पहले भाई कान्ह सिंह नाभा ने 'हम हिन्दू नहीं' नामक पुस्तिका लिखी

---

१ पृथ्वी। २ वायु। ३ अग्नि। ४ जल। ५ सम्मिश्रण।

थी। प्रो० तेजासिंह के Essays on Sikhism भी इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। जहा तक सिक्ख गुरुद्वारो का सबध है वहा हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध नहीं है। बम्बई सरकार के कानून में सिक्ख धर्म को पृथक् गिना है। १९१९ से उन्हें अलग राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए। हां, नये विधान में साम्प्रदायिक विभाजन का अत किया जा रहा है।

*हिन्दू' शब्द की एक और परिभाषा*

कुछ वर्षों से हिन्दू शब्द की एक और व्याख्या उपस्थित की गई है। उसमें इस बात का प्रयत्न किया गया है कि जैनों, बौद्धों व सिक्खों में अपने को हिन्दुओं से पृथक् समझने की जो भावना हिन्दू शब्द के प्रचलित सकुचित अर्थ के कारण घर कर गई है, उसका निराकरण किया जाय और भारत के प्राचीन निवासी होने के कारण इस देश के प्रति सब में एक सामूहिक चेतना तथा यहा की सस्कृति के प्रति श्रद्धा की भावना पैदा की जाय। यह प्रयत्न स्तुत्य है और हमें वास्तविकता की ओर ले जाता है। यह नया परिभाषा वीर सावरकर की देन है[1]। उनका कथन है—

"आ सिंधो. सिंधुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभू. पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥"

'सिंधु नदी से लेकर समुद्र पर्यन्त यह भारत भूमि जिस व्यक्ति की पितृभू (जन्मभूमि) तथा पुण्यभू (धार्मिक दृष्टि से पवित्र भूमि) है, वही निश्चय पूर्वक हिन्दू है।" रामदास गौड़ के शब्दों में 'भारत की प्राचीनतम आर्य परपरा को अपनी परपरा स्वीकार करता हुआ जो भारत की सस्कृति और भारत के धर्म को पूर्ण रूप से व अशरूप से अपनावे, वही भारतियो के लिए हिन्दू है।" (हिन्दुत्व) श्रद्धेय प० सुखलाल जी ने अपने एक लेख में सूचित किया है कि स्व० श्रीआनन्द शकर बापू भाई ध्रुव हिन्दू शब्द में वैदिक, बौद्ध व जैन तीनों को समाविष्ट करते थे। उनका विचार हिन्दू वैदिक धर्म, हिन्दू बौद्ध धर्म तथा हिन्दू जैन धर्म पर पुस्तकें लिखने का था।

ये परिभाषाएँ व्यापक हैं और कम से कम भारत वसुन्धरा पर उदित तथा पल्लवित सभी धार्मिक परपराओ का एक सूत्र में बाधने में समर्थ हैं। किन्तु यह कहना कठिन है कि हमारी केन्द्रीय अथवा कोई भी प्रान्तीय सरकार इस विशाल अर्थ में हिन्दू शब्द का प्रयोग करती है या उस सकुचित और सीमित अर्थ में जिस में वह अत्यधिक रूढ हो चुका है।

---

१—रामदास गौड़ कृत 'हिन्दुत्व' मे लिखा है कि कुछ लोग इस श्लोक को लोकमान्य तिलक द्वारा रचित बताते हैं।

बम्बई सरकार की १९-८-१९४९ की विज्ञप्ति —

इस विज्ञप्ति में बताया गया है कि हरिजन मन्दिर प्रवेश कानून में दी गई हिन्दू की व्याख्या में जैनों का समावेश करने के विरुद्ध कितनेक जैनों ने आपत्तियां उठाई हैं जिन में मुख्य ये हैं । —

(१) ईसाई, सिक्ख और पारसी धर्म की तरह जैन धर्म हिन्दू धर्म से बिल्कुल स्वतन्त्र धर्म है —

(२) इस कानून की मर्यादा में जैनों को समाविष्ट करने का सरकार का मूलाशय न था ।

(३) कानून निर्माण के इतिहास में जैनों को प्रथम बार हिन्दुओं मे शामिल किया गया है ।

(४) हरिजनों को जैन मन्दिरो में प्रवेशाधिकार देने वाली धाराएँ जैनधर्म शास्त्रों के विरुद्ध हैं ।

सरकार का कथन है कि इनमे से कोई भी आपत्ति टिक सके ऐसी नहीं है । पहली आपत्ति के विषय में कहा गया है कि अभी तक ईसाई या पारसी धर्म को जिस अर्थ में हिन्दू धर्म से अलग गिनने में आया है, उस अर्थ में जैन धर्म को हिन्दू धर्म से स्पष्ट पृथक् स्वीकार नहीं किया गया है । मैं समझता हूँ कि यह उत्तर सर्वथा असन्तोषजनक तथा भ्रमपूर्ण है । सरकार ने पहली आपत्ति का उत्तर देते हुए ईसाई व पारसी धर्म का जिक्र किया किन्तु आपत्ति में लिखे गए सिक्ख धर्म के विषय में कुछ नहीं कहा । सरकार को स्पष्ट करना चाहिए था कि वह हिन्दू धर्म का क्या तात्पर्य समझती है और जिस अर्थ से जैन धर्म हिन्दू धर्म से पृथक् नहीं उसी अर्थ से सिक्ख धर्म कैसे पृथक् है । हिन्दू की परिभाषा का निश्चय किए बिना जैन उसमें समाविष्ट हैं या नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है । हिन्दू धर्म के प्रचलित संकुचित अर्थमें जैनधर्म कदापि समाविष्ट नहीं हो सकता । जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है और वैदिक, ब्राह्मण या वर्णाश्रम धर्म से उस का स्पष्ट भेद है [1] । यह ठीक है कि आत्मा का अस्तित्व, कर्म, पुनर्जन्म आदि विषयों में कुछ हद तक समान मान्यताएँ हैं परन्तु ये मान्यताएँ हिन्दुओं और जैनों का ही एकाधिकार नहीं । सिक्ख भी इन्हें स्वीकार करते हैं । ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों में भी इन को किसी न किसी रूप में स्वीकृत किया गया है । समन्वय की दृष्टि से हिन्दू व जैन क्या, संसार के प्राय सभी धर्मों में मौलिक एकता है । नैतिक नियमों में अत्यन्त साम्य है । सत्य एक है केवल देश व काल के भेद के कारण भिन्न भिन्न

१ देख प० सुखलाल जी कृत जैनधर्म का प्राण

परिवर्तन कर सकते हैं किन्तु यदि हम उन्हें अस्पृश्य, घृणित तथा कुत्सित समझ कर अच्छे वातावरण से ही दूर रखें तो वे प्रगति कैसे कर सकेंगे। उन्हें धार्मिक स्थानो मे आने की तथा व्याख्यान आदि सुनने की सुविधा का दिया जाना आवश्यक है। प्रजातत्र के युग में मानव मानव की असमानता का अन्याय टिक नहीं सकता। स्थान की पवित्रता, स्वच्छता, व्यवस्था आदि के नियम सभी मनुष्यो के लिए एक जैसे होगे। धार्मिक स्थानो में प्रवेश की शर्तें किसी व्यक्ति के जाति, वर्ण या व्यवसाय के भेद के कारण भिन्न नहीं हो सकतीं, शास्त्रों की दुहाई देकर छुआ छूत जीवित नहीं रह सकता। जैन धर्म के मूल सिद्धान्त हमे यह प्रेरणा करते हैं कि हम ऊँच नीच की दीवारों को तोड़ डालें। जैनो को हरिजनो के मदिर प्रवेश के प्रति किसी भी दृष्टि से आपत्ति नही होनी चाहिए। ऐसी अवस्था में वर्तमान आचार्य विजयनेमिसूरि द्वारा शत्रुंजय के पास कदम्बगिरि की छोटी पहाड़ी पर बनवाये गए जैन मदिरो के प्रवेश द्वार पर लगे हुए उन शिलालेखो पर हमें महान् आश्चर्य होता है जिसमे कहा गया कि "आज कोई अस्पृश्य जैन नहीं, किन्तु आगे कोई हो भी जाय तो वह प्रवेश नहीं पा सकता।" मेरा ख्याल है कि वह समय शीघ्र आने वाला है जब हमारे व्यवहार में अस्पृश्य शब्द ही अस्पृश्य हो जायगा। उस दशा मे ऐसे लेखो का महत्त्व स्वयमेव समाप्त हो जायगा।

उपसंहार—

हिन्दू शब्द मूलत फारसी भाषा का है। सिंधु नदी के प्रदेश में रहने के कारण विदेशी भारतवर्ष तथा उसके निवासियों को हिन्दू, हिंदु, हिन्दी, होंडु आदि नामो से सबोधित करते थे। मुस्लिम राज्यकाल में इसका उपयोग व्यापक रूप मे होने लगा और तब से ही इस देश के निवासी अपने को आर्य के स्थान पर, हिंदू समझने लगे। उस समय जैन व बौद्ध भी इसी नाम से जाने जाते थे। धीरे धीरे हिन्दू शब्द का अर्थ सकुचित हो गया और वह सकुचित अर्थ ही अधुना अधिकतर प्रचलित है। इस अर्थ के अनुसार हिन्दू वही है जो वर्णाश्रम धर्म को मानता हो तथा वेद, स्मृति, श्रुति, पुराणादि ग्रन्थो से मूल धार्मिक विचारो की प्रेरणा प्राप्त करता हो। अत: आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दू शब्द की एक सर्व सम्मत या अधिकृत परिभाषा निश्चित की जाय। उस परिभाषा के अनुसार ही यह निर्णय किया जा सकता है कि जैन हिन्दू हैं या नहीं।

यदि सावरकर जी की परिभाषा मान्य रखी जाय तो सिक्ख व बौद्ध भी हिन्दू है। उस अवस्था में सिक्ख धर्म को पृथक् मानना उचित नहीं।

यदि शुद्ध और मूल भौगोलिक अर्थ पर विचार किया जाय तो हिन्द मे रहने वाले सभी हिन्दू कहलाने चाहिएँ। तब हम मुसलमानो, ईसाइयो तथा पारसियों को अहिन्दू नहीं कह सकते। ये सभी शब्द अलग अलग धार्मिक सम्प्रदायों के रूप मे ही माने जाएँगे।

अगर वर्णाश्रम धर्मी और वेद धर्मानुयायी ही हिन्दू हैं तब जैन, बौद्ध और सिक्ख हिन्दू नहीं कहे जा सकते। यह बात अलग है कि कोई कानून सामाजिक दृष्टि से उन पर भी लागू किया जाय। मगर वह इस आधार पर न हो कि वे हिन्दू हैं। आज की परिस्थिति में आर्य धर्म या भारतीय धर्म में सब का समावेश होगा परन्तु हिन्दू शब्द में नहीं।

जहाँ तक हरिजनों के जैन धार्मिक स्थानो मे प्रवेश का सबध है, हम समझते है कि उन्हे इस बात से रोकना जैन धर्म व सस्कृति से सर्वथा विरुद्ध है। जैन धर्म का आधार ही समता की भावना है अत विषमता को दूर करना जैनो का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

---

भी यही निष्कर्ष है और मण्डल ने कार्यकारिणी में इस विषय म जो प्रस्ताव पास किया था उसका भी तात्पर्य यही है।

## २. ता०-१४-८-४९ की कार्यकारिणी के विशेष प्रस्ताव--

१ सोसायटी भवन मरम्मत के लिये ५००) मजूर किया गया।

२ जैनदर्शन-शास्त्री परीक्षा देने वाले छात्रो को पारितोषिक देने के लिये २००) मजूर किया गया।

३ सशोधनपूर्ण ग्रथ के लेखक को २५००) का पारितोषिक देने को निश्चित हुआ और इसकी व्यवस्था के लिये एक समिति कायम की गई।

४ Miss Rigine Raveau की मण्डल के फेलोशिप में स्वीकृति हुई।

५ हरिजन मदिर प्रवेश के विषय में प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि--"जैन सस्कृत सशोधन मण्डल की यह सभा घोषित करती है कि जैन धर्म तथा सस्कृति के अनुसार हरिजन भाईओ के लिये धर्मस्थानों में प्रवेश निषिद्ध नही है। उन्हे भी धर्म स्थान तथा मदिरो में आकर उपासना तथा धर्माराधना का पूर्ण अधिकार है। उन्हे इस अधिकार से वचित करना जैन-सस्कृति के प्रतिकूल है। अत यह सभा सरकार से अनुरोध करती है कि वह सभी जैन धर्म स्थानो को हरिजनों के लिये धर्माराधन के निमित्त खुले घोषित कर दें।"

६ यूनिवर्सिटीओ में जैनपाठ्यक्रम के लिये प्रबध हो एतदर्थ एक उपसमिति कायम की गई।

## ३. प्राप्तिस्वीकार सितम्बर १९४९

१००) श्री जगन्नाथजी जैन, बार, बबई

५०१) श्री कलकत्ता जैन स्थानकवासी गुजराती सघ, कलकत्ता

## ४. 'श्रमण'

पार्श्वनाथ विद्याश्रम की ओरसे 'श्रमण' नामक मासिक पत्र दिवालीसे प्रारम्भ हो रहा है। सपादक श्री इन्द्रचन्द्र वेदान्ताचार्य, M A है। ग्राहक बनने के लिये श्री कृष्णचन्द्राचार्य, जैनाश्रम, हिन्दू युनिवर्सिटी बनारस--इस पते पर लिखे।

निवेदक

मंत्री

जैन संस्कृति सशोधन मण्डल

# 'SANMATI' PUBLICATIONS

| | | |
|---|---|---|
| | World Problems and Jain Ethics<br>by Dr Beni Prasad | 6 Ans |
| | Lord Mahavira<br>by Dr Bool Chand, M A , Ph D | Rs 4/8/ |
| 3 | विश्व-समस्या और व्रत-विचार डॉ० वेनीप्रसाद | चार आने |
| 4 | Constitution | 4 Ans |
| 5 | अहिंसा की साधना —श्री काका कालेलकर | चार आने |
| 6 | परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण | चार आने |
| 7 | Jainism in Kalingadesa Dr Bool Chand | 4 Ans |
| 8 | भगवान महावीर—श्रीदलसुखभाई मालवणिया | चार आने |
| 9 | Mantra Shastra and Jainism—Dr A S Altekar | 4 Ans |
| 10 | जैन-सस्कृति का हृदय—प० श्री सुखलालजीसघवी | चार आने |
| 11 | भ० महावीरका जीवन—प० श्री सुखलालजी सघवी | " " |
| 12 | जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद<br>ले०—पं० श्री सुखलालजी तथा डॉ० राजवलि पाण्डेय | " " |
| 13 | आगमयुग का अनेकान्तवाद—श्री दलसुखभाई मालवणिया | आठ आने |
| 14--15 | निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय—श्री सुखलालजी सघवी | एक रुपया |
| 16 | वस्तुपाल का विद्यामण्डल—प्रो० भोगीलाल साडेंसरा | आठ आने |
| 17 | जैन आगम—श्री दलसुखभाई मालवणिया | मूल्य दस आने |
| 18 | कार्यप्रवृत्ति और कार्यदिशा | आठ आने |
| 19 | गाधीजी और धर्म<br>ले० प० श्री सुखलालजी और दलसुख मालवणिया | दस आने |
| 20 | अनेकान्तवाद—प० श्री सुखलाल जी सघवी | वारह आने |
| 21 | जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन<br>प० दलसुखभाई मालवणिया | दस आने |
| 22 | राजर्षि कुमारपाल—मुनि श्री जिनविजयजी | आठ आने |
| 23 | जैनधर्म का प्राण—श्री सुखलालजी सघवी | छ आने |
| 24 | हिन्दू जैन, और हरिजन मदिर प्रवेश<br>ले० श्री पृथ्वीराज M A | सात आने |

*Write to :—*

*The Secretary,*

**JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY**

**BENARES HINDU UNIVERSITY**

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

# जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

पत्रिका नं० १६

# गांधीजी और धर्म

लेखक

पं० श्री सुखलालजी संघवी

पं० श्री दलसुख मालवणिया

'सच्चं लोगम्मि सारभूयं'

TRUTH ALONE MATTERS

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY

PARSHVANATH VIDYASHRAMA

P. O. Benares Hindu University

Annas Ten

# निवेदन।

महामानव गाधीजी को श्रद्धाञ्जली चढाने के लिये हमारा यह तुच्छ प्रयत्न है। इस बात का हमें पता है कि यह सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है। फिर भी हमने साहस किया है। इसमें प० श्री सुखलालजी के दो लेख हैं। प्रथम लेख 'गाधीजी की जैन धर्म को देन' उन्होंने इसी पत्रिका के लिये लिख दिया है। उसमे उन्होने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि गाधीजी के आचार और विचारो का असर जैनधर्मावलम्बिओं के ऊपर किस प्रकार कितना हुआ है। दूसरा लेख 'गाधीजी का जीवन धर्म' १९४४ में होने वाली गाधीजयन्ती के निमित्त 'जन्मभूमि' मे गुजराती मे लिखा था। उसे हमने साभार यहा हिन्दी में उद्धृत किया है। उसमें पण्डितजी ने भारतीय प्रसिद्ध धर्मों में से कोई भी धर्म उसके साप्रदायिक अर्थ में गाधीजी का नहीं है यह बात स्पष्ट करदी है तथा यह प्रतिपादन किया है कि गाधीजी का धर्म उनका अपना है और वह सभी धर्मों के सार को अपने मे सचित किये हुए हैं। लेख पुराना होने पर भी उसमें जो विचार है वह आज भी सच्चे और नये ही हैं अतएव यहा देना हमने उचित समझा है।

तीसरा लेख गाधीजी के द्वारा श्रमण परपरा का उद्धार कैसे हुआ यह दिखाने के लिये मैंने लिखा है।

गाधीजी के स्वर्गस्थ होने पर मण्डल के अध्यक्ष की ओर से पत्रो मे जो बयान छपा था वह नीचे दिया जाता है।

*दलसुख मालवणिया*

---

Dr Bool Chand, President of the Jain Cultural Research Society, writes:

"The Jain Community feels deeply agonised over the death of Mahatma Gandhi in this unnatural manner Not since the time of Bhagwan Mahavira has the message of non-violence and goodwill been preached with equal force by anybody else. It is a pity that those who act in the name of Hinduism are so completely ignorant of the fundamental basis of that faith"

# गांधीजी की जैनधर्म को देन ।

*लेखक— श्री पं० सुखलालजी संघवी ।*

धर्म के दो रूप होते हैं। सम्प्रदाय कोई भी हो उसका धर्म बाहरी और भीतरी दो रूपों में चलता रहता है। बाह्य रूप को हम 'धर्म कलेवर' कहें तो भीतरी रूप को 'धर्म-चेतना' कहना चाहिए।

धर्म का प्रारम्भ, विकास और प्रचार मनुष्य जाति में ही हुआ है। मनुष्य खुद न केवल चेतन है और न केवल देह। वह जैसे सचेतन देहरूप है वैसे ही उसका धर्म भी चेतनायुक्त कलेवररूप होता है। चेतना की गति, प्रगति और अवगति कलेवर के सहारे के बिना असंभव है। धर्मचेतना भी बाहरी आचार, रीति-रस्म, स्तुति-प्रणाली आदि कलेवर के द्वारा ही गति, प्रगति और अवगति को प्राप्त होती रहती है।

धर्म जितना पुराना उतने ही उसके कलेवर नानारूप में अधिकाधिक बदलते आते हैं। अगर कोई धर्म जीवित हो तो उसका अर्थ यह भी है कि उसके कैसे भी भद्दे या अच्छे कलेवर में थोड़ा-बहुत चेतना का अंश किसी न किसी रूप में मौजूद है। निष्प्राण देह सड़-गल कर अस्तित्व गँवा बैठता है। चेतनाहीन सम्प्रदाय कलेवर की भी वही गति होती है।

नही। जैसे जैसे धर्मचेतना का विशेष और उत्कट स्पंदन वैसे वैसे ये दोनो विधि-निषेध रूप भी अधिकाधिक सक्रिय होते है। जैन-परम्परा की ऐतिहासिक भूमिका को हम देखते है तो मालूम पडता है कि उसके इतिहास कालसे ही धर्मचेतना के उक्त दोनो लक्षण साधारणरूप में न पाये जाकर असाधारण और व्यापक रूप में ही पाये जाते है। जैन-परम्परा का ऐतिहासिक पुरावा कहता है कि सबका अर्थात् प्राणी मात्र का जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षी के अलावा सूक्ष्म कीट जतु तक का समावेश हो जाता है--सब तरह से भला करो। इसी तरह प्राणी मात्र को किसी भी प्रकार से तकलीफ न दो। यह पुरावा कहता है कि जैन परपरागत धर्मचेतना की वह भूमिका प्राथमिक नही है। मनुष्य जाति के द्वारा धर्मचेतना का जो क्रमिक विकास हुआ है उसका परिपक्व रूप उस भूमिका में देखा जाता है। ऐसे परिपक्व विचार का श्रेय ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् महावीर को तो अवश्य है ही।

कोई भी सत्पुरुषार्थी और सूक्ष्मदर्शी धर्मपुरुष अपने जीवनमें धर्मचेतना का कितना ही स्पदन क्यो न करे पर वह प्रकट होता है सामयिक और देशकालिक आवश्यकताओ की पूर्तिके द्वारा। हम इतिहास से जानते है कि महावीर ने सब का भला करना और किसी को तकलीफ न देना इन दो धर्मचेतना के रूपो को अपने जीवन में ठीक ठीक प्रकट किया। प्रकटीकरण सामयिक जरूरतो के अनुसार मर्यादित रहा। मनुष्य जाति की उस समय और उस देश की निर्बलता, जातिभेद में, छूआछूत में, स्त्री की लाचारी में और यज्ञीय हिंसा में थी। महावीर नें इन्हीं निर्बलताओ का सामना किया। क्यो कि उनकी धर्मचेतना अपने आसपास प्रवृत्त अन्याय को सह न सकती थी। इसी करुणा-वृत्ति नें उन्हे अपरिग्रही बनाया। अपरिग्रह भी ऐसा कि जिसमें न घर-बार और न वस्त्र-पात्र। इसी करुणावृत्ति ने उन्हे दलित-पतित का उद्धार करने को प्रेरित किया। यह तो हुआ महावीर की धर्मचेतना का स्पदन।

पर उनके बाद यह स्पदन जरूर मद हुआ और धर्मचेतना का पोषक धर्म-कलेवर बहुत बढने लगा, बढते बढते उस कलेवर का कद और वजन इतना बढा कि कलेवर की पुष्टि और वृद्धि के साथ ही चेतना का स्पदन मद होने लगा। जैसे पानी सूखते ही या कम होते ही नीचे की मिट्टी में दरारें पडती है और मिट्टी एकरूप न रह कर विभक्त हो जाती है वैसे ही जैन परम्परा का धर्मकलेवर भी अनेक टुकडो में विभक्त हुआ और वे टुकडे चेतनास्पदन

के मिथ्या अभिमान से प्रेरित होकर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। जो धर्मचेतना के स्पंदन का मुख्य काम था वह गौण हो गया और धर्मचेतना की रक्षा के नाम पर वे मुख्यतया गुजारा करने लगे।

धर्म-कलेवर के फिरकों में धर्मचेतना कम होते ही आसपास के विरोधी बलों ने उनके ऊपर बुरा असर डाला। सभी फिरके मुख्य उद्देश के बारे में इतने निर्बल साबित हुए कि कोई अपने पूज्य पुरुष महावीरकी प्रवृत्ति को योग्य रूप में आगे न बढ़ा सके। स्त्री-उद्धार की बात करते हुए भी वे स्त्री के अबलापन के पोषक ही रहे। उच्च-नीच भाव और छूआछूत को दूर करने की बात करते हुए भी वे जातिवादी ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव से बच न सके और व्यवहार तथा धर्मक्षेत्र में उच्च-नीच भाव और छूआछूतपने के शिकार बन गए। यज्ञीय हिंसा के प्रभाव से वे जरूर बच गये और पशु-पक्षी की रक्षा में उन्होंने हाथ ठीक ठीक बटाया, पर वे अपरिग्रह के प्राण मूर्छात्याग को गँवा बैठे। देखने में तो सभी फिरके अपरिग्रही मालूम होते रहे, पर अपरिग्रह का प्राण उनमें कम से कम रहा। इसी लिए सभी फिरकों के त्यागी अपरिग्रह व्रत की दुहाई देकर नंगे पाँव से चलते देखे जाते हैं, सूचन रूप में बाल तक हाथ से खींच डालते हैं, निर्वसन भाव भी धारण करते देखे जाते हैं, सूक्ष्म-जन्तु की रक्षा के निमित्त मुंह पर कपड़ा तक रख लेते हैं, पर वे अपरिग्रह के पालन के लिए अनिवार्य रूपसे आवश्यक ऐसा स्वावलम्बी जीवन करीब करीब गँवा बैठे हैं। उन्हें अपरिग्रह का पालन गृहस्थों की मदद के सिवाय संभव नहीं दीखता। फलतः वे अधिकाधिक पर परिश्रमावलम्बी हो गए हैं।

हिंसा, असत्य और परिग्रह के सस्कारो का ही समर्थन करते जाते थे। ऐसा माना जाने लगा था कि कुटुम्ब, समाज, ग्राम, राष्ट्र आदि से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्तियाँ सासारिक है, दुनियावी है, व्यावहारिक है। इसलिए ऐसी आर्थिक, औद्योगिक और राजकीय प्रवृत्तियो में न तो सत्य साथ दे सकता है, न अहिंसा काम कर सकती है और न अपरिग्रह व्रत ही कार्यसाधक बन सकता है। ये धर्म सिद्धान्त सच्चे है सही, पर इनका शुद्ध पालन दुनिया के बीच सभव नही। इसके लिए तो एकान्त वनवास और ससार-त्याग ही चाहिए। इस विचार ने अनगार त्यागियो के मन पर भी ऐसा प्रभाव जमाया था कि वे रात दिन सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का उपदेश करते हुए भी दुनियावी-जीवन में उन उपदेशो के सच्चे पालन का कोई रास्ता दिखा न सकते थे। वे थक कर यही कहते थे कि अगर सच्चा धर्म पालन करना हो तो तुम लोग घर छोडो, कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र की जवाबदेही छोडो, ऐसी जवाबदेही और सत्य-अहिंसा-अपरिग्रह का शुद्ध पालन दोनो एक साथ सभव नही। ऐसी मनोदशा के कारण त्यागी गण देखने में अवश्य अनगार था; पर उसका जीवन तत्त्वदृष्टि से किसी भी प्रकार अगारी गृहस्थो की अपेक्षा विशेष उन्नत या विशेष शुद्ध बनने न पाया था। इसलिये जैन समाज की स्थिति ऐसी हो गई थी कि हजारो की सख्या में साधु-साध्वियाँ के सतत होते रहने पर भी समाज के उत्थान का कोई सच्चा काम होने न पाता था और अनुयायी गृहस्थवर्ग तो साधु-साध्वियो के भरोसे रहने का इतना आदी हो गया था कि वह हर एक बात में निकम्मी प्रथा का त्याग, सुधार, परिवर्तन वगैरह करने मे अपनी बुद्धि और साहस ही गवाँ बैठा था। त्यागी वर्ग कहता था कि हम क्या करें? यह काम तो गृहस्थो का है। गृहस्थ कहते थे कि हमारे सिरमौर गुरु है। वे महावीर के प्रतिनिधि है, शास्त्रज्ञ है, वे हमसे अधिक जान सकते है, उनके सुझाव और उनकी सम्मति के बिना हम कर ही क्या सकते है? गृहस्थो का असर ही क्या पडेगा? साधुओ के कथन को सब लोग मान सकते हैं इत्यादि। इस तरह अन्य धर्म समाजो की तरह जैन समाज की नैया भी हर एक क्षेत्र में उलझनो की भँवर में फँसी थी।

सारे राष्ट्र पर पिछली सहस्राब्दी ने जो आफतें ढाई थी और पश्चिम के सम्पर्क के बाद विदेशी राज्य ने पिछली दो शताब्दियो में गुलामी, शोषण और आपसी फूट की जो आफत बढाई थी उसका शिकार तो जैन समाज शत प्रतिशत था ही; पर उसके अलावा जैन समाज के अपने निजी भी प्रश्न थे। जो

सत्य के सफल प्रयोगो ने और किसी समाज की अपेक्षा सबसे पहले जैन समाज का ध्यान खिचा। उसके बूढ़े तरुण अनेक सभ्य शुरू में कुतूहलवश और पीछे लगनी से गाधीजीके आसपास इकट्ठे होने लगे। जैसे जैसे गाधीजी के अहिंसा और सत्य के प्रयोग अधिकाधिक समाज और राष्ट्रव्यापी होते गये वैसे वैसे जैन समाज को विरासत में मिली अहिंसावृत्ति पर अधिकाधिक भरोसा होने लगा और फिर तो वह उन्नत मस्तक और प्रसन्नवदन से कहने लगा कि 'अहिंसा परमो धर्मः' यह जो जैन परम्परा का मुद्रालेख है उसीकी यह विजय है। जैन परम्परा स्त्री की समानता और मुक्ति का दावा तो करती ही आ रही थी; पर व्यवहार में उसे उसके अबलापन के सिवाय कुछ नजर आता न था। उसने मान लिया था कि त्यक्ता, विधवा और लाचार कुमारीके लिए एक मात्र बलप्रद मुक्तिमार्ग साध्वी बनने का है। पर गाधीजी के जादू ने यह साबित कर दिया कि अगर स्त्री किसी अपेक्षा से अबला है तो पुरुष भी अबल ही है। अगर पुरुष को सबल मान लिया जाय तो स्त्री के अबला रहते वह सबल बन नही सकता। कई अशो में तो पुरुष की अपेक्षा स्त्री का बल बहुत है। यह बात गाधीजी ने केवल दलीलो से समझाई न थी; पर उनके जादू से स्त्रीशक्ति इतनी अधिक प्रकट हुई कि अब तो पुरुष उस अबला कहने में सकुचाने लगा। जैन स्त्रियो के दिल मे भी ऐसा कुछ चमत्कारिक परिवर्तन हुआ कि वे अब अपने को शक्तिशाली समझ कर जवाबदेही के छोटे मोटे अनेक काम करने लगी और आमतौर से जैन-सनाज में यह माना जाने लगा कि जो स्त्री ऐहिक बधनो से मुक्ति पाने म असमर्थ है वह साध्वी बन कर भी पारलौकिक मुक्ति पा नही सकती। इस मान्यता से जैन बहनो के सूखे और पीले चेहरे पर सुर्खी आ गई और वे देश के कोने कोने में जवाबदेही के अनेक काम सफलता पूर्वक करने लगी। अब उन्हे त्यक्तापन, विधवापन या लाचार कुमारीपन का कोई दु.ख नही सताता। यह स्त्रीशक्ति का काया पलट है। यो तो जैन लोग सिद्धान्त रूप से जातिभेद और छूआछूत को बिलकुल मानते न थे और इसी मे अपनी परम्परा का गौरव भी समझते थे; पर इस सिद्धान्त को व्यापक तौर से वे अमल में लाने में असमर्थ थे। गाधीजी की प्रायोगिक अजनशलाका ने जैन समझदारो के नेत्र खोल दिये और उनमें साहस भर दिया। फिरे तो वे हरिजन या अन्य दलितवर्ग को समान भाव से अपनाने लगे। अनेक बूढे और युवक स्त्री-पुरुषो का खास एक वर्ग देश भर के जैन ममाज मे ऐसा तैयार हो गया है कि वह अब रूढि-चुस्त मानस की बिलकुल परवाह बिना किय हरिजन और दलितवर्ग की सेवा

में या तो पड़ गया है, या उसके लिए अधिकाधिक सहानुभूति पूर्वक सहायता करता है ।

जैन समाज में महिमा एक मात्र त्याग की रही, पर कोई त्यागी निवृत्ति और प्रवृत्ति का सुमेल साध न सकता था। वह प्रवृत्ति मात्र को निवृत्ति विरोधी समझ कर अनिवार्य रूप से आवश्यक ऐसी प्रवृत्ति का बोझ भी दूसरों के कन्धे डाल कर निवृत्ति का संतोष अनुभव करता था। गांधीजी के जीवन ने दिखा दिया कि निवृत्ति और प्रवृत्ति वस्तुतः परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। जरूरत है तो दोनों के रहस्य पाने की। समय प्रवृत्ति की माग कर रहा था और निवृत्ति की भी। सुमेल के बिना दोनों निरर्थक ही नहीं बल्कि समाज और राष्ट्रघातक सिद्ध हो रहे थे। गांधीजी के जीवन में निवृत्ति और प्रवृत्ति का ऐसा सुमेल जैन समाज ने देखा जैसा गुलाब के फूल और सुवास में। फिर तो मात्र गृहस्थों की ही नहीं बल्कि त्यागी अनगारों तक की आँखें खुल गईं। उन्हें अब जैन शास्त्रों का असली मर्म दिखाई दिया या वे शास्त्रों को नये अर्थ में नये सिरे से देखने लगे। कई त्यागी अपना भिक्षुवेष रख कर भी या छोड़ कर भी निवृत्ति-प्रवृत्ति के गंगा-यमुना संगम में स्नान करने आये और वे अब भिन्न भिन्न सेवा क्षेत्रों में पड़ कर अपना अनगारपना सच्चे अर्थ में साबित कर रहे हैं।

नही है; पर खुद जैन परम्परा उस सिद्धान्त का सर्वलोकहितकारक रूप से प्रयोग करना तो दूर रहा; पर अपने हित में भी उसका प्रयोग करना जानती न थी। वह जानती थी इतना ही कि उस वाद के नाम पर भगजाल कैसे किया जा सकता है और विवाद में विजय कैसे पाया जा सकता है ? अनेकान्त वाद के हिमायती क्या गृहस्थ क्या त्यागी सभी फिरकेबदी और गच्छ-गण के ऐकान्तिक कदाग्रह और झगडे में फँसे थे। उन्हे यह पता ही न था कि अनेकान्त का यथार्थ प्रयोग समाज और राष्ट्र की सब प्रवृत्तियो में कैसे सफलता पूर्वक किया जा सकता है ? गांधीजी तख्ते पर आये और कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र की सब प्रवृत्तियो में अनेकान्त दृष्टि का ऐसा सजीव और सफल प्रयोग करने लगे कि जिससे आकृष्ट होकर समझदार जैनवर्ग यह अन्तःकरण से महसूस करने लगा कि भङ्गजाल और वादविजय में तो अनेकान्त का कलेवर ही है उसकी जान नही। जान तो व्यवहार के सब क्षेत्रो में अनेकान्तदृष्टि का प्रयोग करके विरोधी दिखाई देने वाले बलो का सघर्ष मिटाने में ही है।

जैन-परम्परा में बिजय सेठ और विजया सेठानी इस दम्पती युगल के ब्रह्मचर्य की बात है। जिसमें दोनो का साहचर्य और सहजीवन होते हुए भी शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन का भाव है। इसी तरह स्थूलिभद्र मुनि के ब्रह्मचर्य की भी कहानी है जिसमें एक मुनि ने अपनी पूर्वपरिचित वेश्या के सहवास मे रह कर भी विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया है। अभी तक ऐसी कहानियाँ लोकोत्तर समझी जाती रही। सामान्य जनता यही समझती रही कि कोई दम्पती या स्त्री-पुरुष साथ रह कर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करे तो वह दैवी चमत्कार जैसा है। पर गान्धीजी के ब्रह्मचर्यवास ने इस अति कठिन और लोकोत्तर समझी जाने वाली बात को प्रयत्न साध्य पर इतनी लोकगम्य साबित कर दिया कि आज अनेक दम्पती और स्त्री-पुरुष साथ रह कर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करने का निर्दम्भ प्रयत्न करते हैं। जैन समाज में भी ऐसे अनेक युगल मौजद है। अब उन्हे कोई स्थूलिभद्र की कोटि में नही गिनता। हाला कि उनका ब्रह्मचर्य-पुरुषार्थ वैसा ही है। रात्रिभोजनत्याग और उपभोगपरिभोग परिमाण तथा उपवास, आयविल जसे व्रत-नियम नये युग में केवल उपहास की दृष्टि से देखे जाने लगे थे और श्रद्धालु लोग इन व्रतो का आचरण करते हुए भी कोई तेजस्विता प्रकट कर न सकते थे। उन लोगो का व्रत-पालन केवल रूढिधर्म सा दीखता था। मानो उनमें भावप्राण रहा ही न हो। गान्धीजी ने इन्ही व्रतो में ऐसा प्राण फूका कि आज कोई इनके मखौल का साहस नही कर सकता। गाधीजी के उपवास

के प्रति दुनिया-भर का आदर है। उनके रात्रिभोजनत्याग और इनेगिने खान पान के नियम को आरोग्य और सुभीते की दृष्टि से भी लोग उपादेय समझते है। हम इस तरह की अनेक बातें देख सकते हैं जो परम्परा से जैन समाज में चिरकाल से चली आती रहने पर भी तेजोहीन सी दीखती थीं, पर अब गांधीजी के जीवन ने उन्हें आदरास्पद बना दिया है।

जैन परम्परा के एक नहीं अनेक सुसंस्कार जो सुप्त या मूर्छित से पड़े थे उनको गांधीजी की धर्म चेतनाने स्पंदित किया, गतिशील किया और विकसित भी किया। यही कारण है कि अपेक्षाकृत इस छोटे से समाज ने भी अन्य समाजों की अपेक्षा अधिकसंख्यक सेवाभावी स्त्री पुरुषों को राष्ट्र के चरणों में अर्पित किया है। जिसमें बूढ़े जवान स्त्री-पुरुष, होनहार तरुण-तरुणी और त्यागी भिक्षु का भी समावेश होता है।

मानवता के विशाल अर्थ में तो जैन समाज अन्य समाजों से अलग नहीं। फिर भी उसके परम्परागत संस्कार अमुक अंश में इतर समाजों से जुदे भी हैं। ये संस्कार मात्र धर्म कलेवर बन धर्मचेतना की भूमिका को छोड़ बैठे थे। यों तो गांधीजी ने विश्व भर के समग्र सम्प्रदायों की धर्म चेतना को नवप्राणित किया है, पर साम्प्रदायिक दृष्टि से देखें तो जैन समाज को मानना चाहिए कि उसके ऊपर गांधीजी की बहुत बड़ी और अनेकविध देन है। क्योंकि गांधी जी की देन के कारण ही अब जैन समाज अहिंसा, स्त्री समानता, वर्ग समानता, निवृत्ति और अनेकान्त दृष्टि इत्यादि अपने विरासतगत पुराने सिद्धान्तों को क्रियाशील और सार्थक साबित कर सकता है।

हम गाधीजी की देन को एक एक करके न तो गिना सकते है और न ऐमा भी कर सकते है कि गाधीजी की अमुक देन तो मात्र जैन समाज के प्रति ही है और अन्य समाज के प्रति नही। वर्षा होती है तब क्षेत्रभेद नही देखती। सूर्य चन्द्र प्रकाश फेंकते है तब भी स्थान या व्यक्ति का भेद नही करते। तो भी जिसके घडे में पानी आया और जिसने प्रकाश का सुख अनुभव किया, वह तो लौकिक भाषा में यही कहेगा कि वर्षा या चन्द्र-सूर्य ने मेरे पर इतना उपकार किया। इसी न्याय से इस जगह गाधीजी की देन का उल्लेख है, न कि उस देन की मर्यादा का।

गाधीजी के प्रति अपने ऋण को अंश से भी तभी अदा कर सकते है जब हम उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का दृढ सकल्प करे और चले।

# गांधीजी का जीवन धर्म ।

*लेखक—पं० श्री सुखलालजी संघवी*

जैसे कि गांधीजी किसी भी भारतीय की आर्थिक, सामाजिक, तथा राज-कीय दासता को सहन करने के लिए तैयार नहीं हैं और इसीलिए जैसे वे समग्र भारत की स्वातंत्र्य सिद्धि के लिए जीवन में एक एक श्वास लेते हैं, वैसे ही देश की दासता के बारे में तड़फन रखने वाले और जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए ही दीक्षा ले रखी है, ऐसे अनेकानेक देशभक्त आज भी हिन्द के जेलों में या जेलों के बाहर जीवित हैं। भारत को छोड़कर दूसरे देशों पर भी अगर हम दृष्टिपात करें, तो पता चलेगा कि वहाँ पर भी गांधीजी की तरह ही अपने अपने देशों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए और उनके विकास के लिए आमरण प्रयत्नशील स्टालिन, हिटलर, चर्चिल व च्यांग काई-शेक आदि बहुत से राजपुरुष आज भी मौजूद हैं। फिर भी भारत या भारत के बाहर के किसी भी नायक के जीवन के बारे में हमें कभी यह प्रश्न नहीं होता कि उनके जीवन में धर्म का क्या स्थान है, अथवा कौन सा धर्म उनके जीवन से सम्बन्ध रखता है, जबकि गांधीजी के बारे में इससे बिलकुल उलटा है। गांधीजी की सभी प्रवृत्तियाँ—चाहे वे ग्रामोद्योगों को स्वावलम्बी बनाने की हों, पशुपालन या [illegible], शिक्षा ग्रामसुधार, समाज सुधार और कौमी एकता की हों, [illegible] स्वाधीनता आदि सम्बन्धी हों, वे लिखने की हों या बोलने की, [illegible] कोई धारण करते हों—इन सब की [illegible] दृष्टि से [illegible] प्रेरणा [illegible] और वह रहस्य है धर्म का।

लगता है कि चौबीसो घटे प्रवृत्तियो में रत इस व्यक्ति का जीवन धार्मिक भी हो सकता है या नही ? और यदि धार्मिक है, तो कौन से धर्म का स्थान हो सकता है ? पृथिवी पर के सभी धर्मो में से कौन सा ऐसा धर्म है, जो कि इस व्यक्ति के जीवन में जीवन शक्ति का सचार कर के प्रवृत्ति में भी निवृत्ति को सिद्ध कर निवृत्ति में भी प्रवृत्ति का रसायन सचार कर रहा है।

प्रत्येक धार्मिक समाज के अनुयायिओ की सामान्यतया तीन श्रेणियां होती हे। पहली श्रेणी कट्टर-पथियो की, दूसरी दुराग्रह न रखने वालो की, और तीसरी तत्त्वचिंतको की। जैन-समाज में भी न्यूनाधिक रूप में उक्त तीनो श्रेणियो के व्यक्ति है। जैसे कि कोई कट्टर सनातनी, कट्टर मुसलमान या कट्टर ईसाई,-जो अपने अपने धर्मो के आचार विचारो की मान्यताओ को ही धर्म समझता है, तब वह बाह्य रूप को गाधीजी के जीवन में अक्षरश न पाकर—ऐसा मान बैठता है कि—गाधी जी न तो सच्चे सनातनी है, न सच्चे मुसलमान या न सच्चे ईसाई ही। ठीक इसी तरह एक कट्टर जैन भी गाधीजी के जीवन में जैन आचार-विचार किवा जैन क्रियाकाण्ड के बाह्य रूप को न पाकर वस्तुत ऐसा मानने लगता है कि—गाधी जी कितने ही धार्मिक क्यो न हो, पर उनके जीवन में जैन धर्म को कोई स्थान नही। क्योकि वे गीता, रामायण आदि द्वारा जो महत्त्व ब्राह्मण धर्म को देते है, वैसा जैन-धर्म को नही देते। दूसरी श्रेणी के व्यक्ति जो बाह्य क्रियाकाण्ड में ही धर्म की इतिश्री नही मानते है, और कुछ गुणदर्शी व विचारक हैं—वे तो गाधीजी के जीवन में अपने अपने धर्मो का सुनिश्चित तत्त्व देखते है। ऐसे स्वभाव का विचारक यदि सनातन होगा, तो वह गाधी जी के जीवन मे सनातन धर्म का ही सस्करण देखेगा। यदि मुसलमान या ईसाई होगा, तो वह भी उनके जीवन में अपने ही धर्म का रग चढा हुआ पाएगा। इसी तरह उक्त स्वभाव का जैन भी गाधी-जी के जीवन में जैन धर्म के मूलभूत अहिसा, सयम और तप को विलकुल नये ही रूप मे पाकर उनके जीवन को जैनधर्म-मय देखने लगेगा। तीसरी श्रणी के व्यक्ति—जो कि अन्तर्दृष्टि व विचारक होने नाते स्व तथा पर का भेद न करते हुए—केवल धर्म तत्त्व का ही विचार करते है, ऐसे तत्त्वचिन्तक वर्ग की दृष्टि से गाधीजी के जीवन में धर्म तो है ही, पर वह धर्म इस सप्रदाय या उस सप्रदाय का नही है, किन्तु सभी सप्रदायो का प्राणभ्त होने के अलावा सर्व सप्रदायातीत तथा प्रयत्न सिद्ध स्वतत्र धर्म है। ऐसे तत्त्वचिन्तक भले ही जैन समाज में इनेगिने क्यो न हो, पर है अवश्य, जो गाधीजी के जीवनगत धर्म

रूप में नही अपनाया, बल्कि उन तत्त्वो को अपने विवेक और क्रिया-शीलता से जीवन में हज़म करके उनमें से एक नया ही स्वपर कल्याणकारी धार्मिक दृष्टि-बिन्दु निष्पन्न किया है। गाधीजी वेदो को तो मानेगे, पर वैदिक यज्ञ यागादि नही कर सकते। इसीतरह वे गीता को कभी नही छोड़ेंगे, पर उसमें विहित-शक्ति द्वारा दुष्टदमन को नही मान सकते। कुरान का पूर्ण आदर करेगे, पर वे दूसरे किसी को काफिर कहनें के लिए तैयार नही। वे बाइबिल का प्रेम धर्म तो स्वीकार कर लेगे, पर दूसरो को धर्मान्तरित करना अनावश्यक समझते है। वे साख्य, जैन और बौद्धो के त्याग-धर्म को तो अपना लेगे, पर विश्व रूप मिथिला किंवा मानव रूप मिथिला—जब दु खाग्नि से जल रही हो तब उसे महाभारत और बौद्ध जातको के विदेह जनक की तरह—'मेरा कुछ भी नही जल रहा है' ऐसा कह कर जलती मिथिला को छोड छाड कर एकान्त जङ्गल में जाने को तैयार नही।

## जैनी अहिंसा से भेद—

बहुतो का यह विचार है कि गाधी जी का निरामिष भोजन के प्रति जो आग्रह है, वह एक जैन साधु से ली हुई प्रतिज्ञा का ही परिणाम है। एव उनका अहिसा विषयक दृढ़ विचार भी श्रीमद् राजचन्द्र के ससर्ग का फल है। इससे सिद्ध है कि गाधी जी का जीवन मार्ग मुख्यरूप से जैनधर्मप्रधान है। मे स्वय उक्त प्रतिज्ञा और ससर्ग की वास्तविकता को मानता हूँ। पर इतने पर भी मेरा विचार है कि गाधीजी का जो अहिसाप्रधान झुकाव है वह जैन अहिसा के दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न है। मासत्याग की प्रतिज्ञा दिलाने वाले—यदि आज जीवित हो, तो इसमें सदेह नही कि—वे गाधी जी के निरामिष भोजन के आग्रह से अवश्य प्रसन्न होगे, पर साथ ही जब वे गाधीजी को यह मानते हुए देखें कि—गाय व भैस आदि पशुओ के दूध को उनके बच्छे व कट्टे के मुह से छीन कर पी जाना साफ ही हिसा है, तो वे इतना जरूर कहेगे कि—क्या यह भी कोई अहिसा है ? श्रीमद् राजचन्द्र जीवित हो और वे गाधी जी को विना शस्त्र के प्रतिकार करते हुए देखें, तो वे सचमुच ही प्रसन्न होगे, पर जव वे गाधीजी को ऐसा आचरण करते हुए तथा मानते हुए देखेंगे कि—जब कोई पशु मरते समय असह्य कष्ट पा रहा हो अथवा बचने की कोई आशा न रही हो, तो इजेक्शन आदि देकर उसे प्राणमुक्त कर देना भी प्रेम धर्म व अहिसा है—तब वे गाधी जी की इस मान्यता और आचरण को कभी जैन

परम्परा मे पहले या अब की प्रचलित मान्यताओको मिलाता है, तो उसका उदार चित्त प्रामाणिक रूप मे यह शका किये बिना नही रह सकता कि–यदि सचमुच ही सिद्धान्त रूप में अहिंसा और सयम का तत्त्व एक ही है तब एक सच्चे जैन त्यागी के जीवन में और गाधीजी के जीवन में इतना अन्तर क्यो ? विचारक का यह प्रश्न बिलकुल निराधार नही कहा जा सकता । इसलिए इसका यदि ठीक उत्तर लेना हो, तो हमें कुछ गहरा विचार करना होगा ।

### दृष्टिविन्दु का साम्य–

जैन धर्म का दृष्टिविन्दु आध्यात्मिक ह, गाधी जी का दृष्टिविन्दु भी आध्यात्मिक है । आध्यात्मिकता का अर्थ है–अपने में रही हुई वासनाओ की मलिनता को दूर करना । प्राचीनकाल में तपस्वी सतो ने देखा कि–काम, क्रोध, भय आदि वृत्तियाँ ही मलिनता का मूल है और वेही आत्मा की शुद्ध वृत्ति का नाश करती है । एव आत्म-शुद्धि की प्राप्ति में विघ्न भी डालती है । अत. उन्होने उन वृत्तियो के उन्मूलन का मार्ग ढूँढ़ निकाला । उन वृत्तियो के उन्मलन करने का अर्थ है–अपने में रहे हुए दोषो को दूर करना। ऐसे दोष है हिंसादि । और उन दोषो को अपने में न आने देना ही–अहिंसा है । इसी प्रकार उक्त दोषो से पदा होनेवाली प्रवृत्तियाँ ही हिंसा, और उन प्रवृत्तियो का त्याग ही अहिंसा है। इस तरह अहिंसा का अर्थ मूल दोषो का त्याग करना है । यह होने पर भी तन्मूलक प्रवृत्तियो का त्याग रूप दूसरा अर्थ भी उसके साथ सकलित हो गया । जो लोग अपनी वासनाओ को निर्मूल करना चाहते थे, वे उन सभी प्रवृत्तियो को भी छोडना चाहते थे, जिनसे वे वासनाएँ सभव थी । यह साधना भी सरल न थी। उन लम्बी साधनाओ के लिए दुनियावी प्रपञ्चो से दूर रहना भी बडा जरूरी था । फलत दुनियावी प्रपचो को छोड कर साधना करने की प्रथा पड गई । वस्तुत ऐसी साधना का मुख्य लक्ष्य दोषो से सर्वथा निवृत्त होना और बडे से बडा प्रसग आने पर भी दोषो से निर्लिप्त रह सके, इतना बल प्राप्त कर लेना था ।

अहिंसा का प्राथमिक और मुख्य निवृत्ति-अश सिद्ध करने के लिए सयम व तप आदि के जो भा प्रकार अस्तित्व में आए, वे सब के सब निवृत्तिप्रधान ही बने । और यही कारण है कि–अहिंसा, सयम तथा तप की सभी व्याख्याएँ भी निवृत्तिपरक ही रची गईं । दूसरी तरफ आध्यात्मिक शुद्धि की साधना व्यक्तिगत न रह कर उसने सघ और समाज में भी स्थान लेना शुरू किया । ज्यो ज्यो

### निवृत्तिलक्षी आचार–

अहिंसा और तन्मूलक सभी आचार-विचारो की प्रथम भूमिका निवृत्तिपरक होने से सब व्याख्याएँ भी निवृत्तिपरक ही बनी, जो कि कालक्रम से बौद्ध-परम्परा और वासुदेव परंपरा के प्रभाव से प्रवृत्ति-प्रधान तथा लोकसग्रह परा-यण बन गईं। अब अहिंसा का अर्थ केवल अभावात्मक नही रहा, बल्कि उसमें विधायक प्रवृत्ति का अश भी जुड गया। चित्तमे से रागद्वेष के निकल जाने के बाद यदि उसमें प्रेम जैसे भावात्मक तत्त्व को स्थान न मिले, तो वह खाली चित्त पुन· रागद्वेष रूप बादलो से घिरे बिना न रहेगा, यह सिद्ध हुआ। इसी तरह सिर्फ मथुन विरमण ही ब्रह्मचर्य है, ऐसा न मान कर उस के अर्थ में भी विकास हुआ। और यह सिद्ध हुआ कि–ब्रह्म में–सर्व भूतो मे अपने आपको और अपने आप में सर्व भूतो को मान कर आत्मौपम्यमूलक प्रवृत्ति में ही लीन रहना–यह है सच्चा ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य के इस अर्थ से ही मैत्री, करुणा आदि भावनाओ का अर्थ भी श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी अन्तिम पुस्तक 'चिद्विलास' में जिस प्रकार बतलाया हैं–वह विस्तृत हुआ, और वे भावनाएँ ही ब्रह्मविहार के रूप से प्रसिद्ध हुईं। मैथुन विरमण उक्त भावात्मक ब्रह्मचर्य का एक अङ्ग बन गया। जब निवृत्तिपरक व्याख्याएँ भी प्रवृत्तिपरक होने लगी, तब उसके प्रभाव से जैन परम्परा सर्वथा अलिप्त तो नही हो सकी, फिर भी उसके साधु समाज के सगठन और दूसरी कई एक बातो के कारण जैन परम्परा का झुकाव व व्यवहार मुख्य रूप से निवृत्तिगामी ही बना रहा। एव शास्त्रीय व्याख्याएँ भी लगभग निवृत्ति की ही पोषक रही। यद्यपि इतिहास का बल समाज को दूसरे ही रूप में बनाता रहा था, और वह जैन परम्परा के व्यवहार में एव शास्त्रीय व्याख्याओ में परिवर्तन चाहता था, तथापि यह काम आज तक भी अधूरा रह गया है।

### संस्कार का प्रभाव–

जब कभी कोई विचारक जैन परम्परा के आचारो व विचारो का अनुसरण करनें लगता है, और जैन शास्त्रो का अभ्यास करता है, तब उसके मन पर हजारो वर्ष पहले के बने हुए निवृत्ति प्रधान नियमो और व्याख्याओ का इतना अधिक सस्कार पडता है कि–उसके बाहर जा कर शायद ही कोई विचार कर सके। सिद्धान्त भले ही एक हो, पर वे परिस्थितियो के कारण किस प्रकार बहुमुखी होकर काम करते है, इसका रहस्य समझना भी उक्त स्थिति में कठिन हो जाता है।

धर्म सक्रियरूप से काम कर रहा है—उसमें उन सभी सांप्रदायिक धर्मों का योग्यरूप मे समन्वय है।

### महान् आत्मा—

गाधीजी भी अपने जैसे ही मनुष्य है। पर उनका आत्मा महान है, और वह महान सिद्ध भी हुआ है। इसका कारण है अहिसा धर्म का लोकाभ्युदयकारी विकास।

गाधीजी को एक छोटी सी कटोरी की सफाई से लेकर बडे से बडे साम्राज्य के विरुद्ध यदि आदोलन न करना पडता, अथवा उस आदोलन मे भी उन्हे अहिसा, सयम तथा तप के प्रयोग करने की सूझ उत्पन्न न होती, तो उनका अहिसा धर्म भी पूर्वोक्त निर्मांस भोजन की प्रतिज्ञा जैसी मर्यादाओ के अक्षरशः पालन करने के ऊपर शायद ही ऊठ पाता। इसीप्रकार यदि किसी एक समर्थतम जैन त्यागी के जिम्मे समाज की सुव्यवस्था का सारा सूत्रसचालन सौंपा जाए, या यो कहिये कि—उसे धर्मप्रधान राज्यतत्र को सचालन करने के पूरे अधिकार दिये जाएँ तो ऐसी स्थिति में वह प्रामाणिक जैन त्यागी भला क्या करेगा? सचमुच यदि वह प्रचलित जैन अहिसा में कोई विकास किए बिना उत्तरदायित्व को निभाना चाहेगा, तो उसे असफलता का ही मुंह ताकना पडेगा। या उसे यो कहना पडेगा कि मैं सामाजिक अथवा राजनैतिक जिम्मेवारियो को नही ले सकता। और यदि वह सचमुच ही प्रतिभाशली व क्रियाशील होगा, तो वह सारी की सारी जिम्मेवारियो को हाथ में लेकर उन्हे निभानेका अथक प्रयत्न करेगा। ऐसे प्रयत्न का फल यह होगा कि—उसे जैन परपरा के एक मात्र निवृत्तिपरक सस्कार बदलने पडेंगे। और अहिसा की व्याख्या में ऐसा विकास करना होगा, जिससे कि सामाजिक हित को लक्ष्य में रखते हुए कितने ही व्यावहारिक परिवर्तन क्यो न करने पडें, फिर भी अहिसा का मूल आत्मा—वासनाओ का त्याग और सद्गुणो का विकास—सुरक्षित रह सके।

### गांधीजी का धर्म नवीन है—

कोई भी साधक—यदि मनुष्य जीवन में खडे होने वाले नित्यनूतन प्रश्नो को धार्मिक दृष्टि से हल करना चाहेगा, तो वह गाधीजी के जीवन धर्म की दिशा को सरलता से समझ सकेगा। इसलिए मैं मानता हूँ कि—गाधीजी का जीवनधर्म

# क्षमाश्रमण गांधीजी।

ले०—श्री दलसुख मालवणिया।

ऋग्वेद के आधार पर प्राचीन धर्म का रूप केवल प्रकृतिपूजा निष्पन्न होता है। इसके मूल में—प्रकृति की गहनता, उपकारकता और विनाशकता के दर्शन से होने वाला अपनी पराधीनता का ज्ञान, भय और स्वार्थ सिद्ध करने की भावना—ये हैं। इसी से प्रकृति तत्त्व में मनुष्य ने श्रद्धा की और इस आशा से कि ये तत्त्व हमारी भलाई करें, हमारा कुछ न बिगाड़ें, प्राकृतिक तत्त्वो का वह पुजारी बन गया। धीरे धीरे प्रकृतिपूजाने एक निश्चित रूप धारण किया। अब व्यक्ति अपने मनमाने प्रकार से पूजा नहीं कर सकता। यदि पूजा करनी ही हो तो निश्चित ढाँचो से बाहर कोई नहीं जा सकता। इसप्रकार यह पूजा व्यक्ति की इच्छा पर नहीं किन्तु सामाजिक इच्छा पर यानी एक सस्था की इच्छा पर चलने लगी और एक पुरोहित वर्ग खड़ा हो गया। धर्म व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं किन्तु पुरोहित समाज की सम्पत्ति बना गया। पुरोहितो ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य छिन कर धार्मिक क्षेत्र में मनुष्यो को पराधीन बना दिया। प्राचीन धर्म का यह एक रूप है जो हमें ऋग्वेद के बाद के ग्रन्थों में मिलता है।

इस धर्म का उद्देश्य क्या था इसकी ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि मनुष्यो को भोगोपभोग की सामग्री की आवश्यकता थी। उसी सामग्री को जुटाने के उद्देश्य से और उसी की रक्षा के उद्देश्य से वे प्राकृतिक तत्त्वो की पूजा करते थे। इससे बढ़ कर या इससे ऊँचा कोई आदर्श प्रकृतिपूजक मनुष्यो के सामने हो ऐसा नहीं लगता।

किन्तु इन प्रकृतिपूजक मनुष्यों के अतिरिक्त एक दूसरा वर्ग भी था जिनका उल्लेख दास व्रात्य, यति इन शब्दो से होता था। यह बात निश्चित है कि इनका धर्म प्रकृतिपूजा नहीं था। इनके धर्म को त्यागप्रधान या व्रतप्रधान धर्म कहा जाय तो अनुचित न होगा। इन दोनों का सघर्ष हुआ है यह भी निश्चित

करने पर भी दूसरो के परिश्रम का फल उठाया जाता था। आवश्यकताए संन्यासियो की कम थीं। श्रद्धाजीवी लोग उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति प्रेम और आदर से करते थे। और वे ज्ञान ध्यान मे मग्न रहते थे। वे लोगो के आदर्श और भावना का स्तर ऊँचा उठाने में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहते थे। सन्यास मार्ग का यह निवृत्ति का आदर्श लम्बे काल तक चलने के बाद उसमे भी कई दोष आ गए। संन्यासियो की सगठित सस्थाएँ बनी, उनके तपोवन, मन्दिर और विहार बने। उनके निर्माण और सुरक्षा के लिये राज्याश्रय लिया गया। और उसीमे सन्यासमार्गियो के पतन के बीज पड़े। उनकी आवश्यकताएँ वृद्धिगत हुई किन्तु कर्तव्यो की या प्रवृत्ति की कमी बनी ही रही। तब श्रीमद् भगवद्गीता के रूप में ब्राह्मण सस्कृति ने सिर उठाया। उसमे पुरानी ब्राह्मण सस्कृति और श्रमण सस्कृति के सुमेल का प्रयत्न होने पर भी प्राधान्य ब्राह्मण सस्कृति का ही है। श्रमण सस्कृति का उपदेश कर्मत्याग–कर्मसन्यास का था वहाँ गीता का उपदेश कर्मत्याग का नहीं किन्तु फलत्याग–फलसन्यास का है। चतुर्वर्णो के नियत कर्मों को श्रमण सस्कृति नहीं मानती वहाँ गीता के मतानुसार 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह।' ३–३५ का सिद्धात है। हिंसक कृत्यो से सर्वथा दूर रहने का उपदेश श्रमण देते रहे वहाँ गीता मे क्षत्रियो को अपने वर्णधर्म का पालन करने के लिये भाई भाई मे भी लड़ना अनिवार्य बताया है। और इसप्रकार वर्णभेद और तन्मूलक कर्तव्य भेद को दृढमूल किया गया है। इसी वर्णभेद और कर्तव्य भेद के ही खिलाफ श्रमण सस्कृति प्रारम्भ से ही रही है। भगवद्गीता के बाद का सारा इतिहास बताता है कि जो व्यवस्था गीता ने दी उसमे से फलत्याग के अश का तो कभी पालन हुआ ही नहीं। किन्तु वर्ण व्यवस्था दृढमूल हुई। कर्तव्य भेद भी दृढमूल हुए जिसका भयङ्कर रूप छोटी-छोटी जातियो और उप जातियो मे मौजूद है। गीता ने श्रमण सस्कृति के मौलिक तत्त्व मोक्ष और सन्यास मार्ग को अपनाते हुए भी, उन तत्त्वो की परम उपादेयता का प्रतिपादन करते हुए भी, स्थितप्रज्ञ के रूप मे श्रमण सस्कृति के आदर्श को बढा चढा कर वर्णन करके भी अर्जुन के मूल प्रश्न का उत्तर तो यही दिया कि क्योंकि तुम क्षत्रिय हो तुम्हें तो लड़ना ही चाहिए। तुम मैदान छोड़कर सन्यास मार्ग को स्वीकार नहीं कर सकते। इस उत्तर में से हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को अभी यदि न उठाया जाय तो स्पष्ट है कि सन्यासमार्गियों के सब जवाबदेहियों से जो भगना था वह गीताकार को अनिष्ट था अतएव उन्होंने कर्म को भी अकर्म संज्ञा दे करके, प्रवृत्ति को भी निवृत्ति ही कहा। अर्थात् निष्काम प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच कोई भेद नहीं ऐसा गीता-

है वर्णव्यवस्था। इसी व्यवस्था के कारण अधिकाश प्रजा अज्ञान और दासता के गर्त में डूबी पड़ी है। गाधीजी का ध्यान इस वर्ण व्यवस्था की ओर जब वे अफ्रिका मे थे तब से गया था। गाधीजी ने इस विषय मे, उनको हिन्दूधर्म में और गीता मे दृढमूल श्रद्धा कराने वाले श्रीमद् राजचन्द्र नामक जैन अध्यात्मा साधक से पूछा था। श्रीमद् राजचन्द्र ने तत्त्वत. वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को न मान कर भी उन्हें यह सलाह दी थी कि जहाँ तक हो लोकाचार की और सद्वृत्तियो की रक्षा के निमित्त वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए। किन्तु गाधीजी ने तात्त्विक बात को ही पकडा और लोकाचार के ढकौसले को दूर ही फैंका। एक जैन आध्यात्मी तत्त्वत. वर्ण व्यवस्था को निकम्मी मानते हुए भी—व्यवहार मे उसके पालन का आग्रह रखते थे यह उनके ऊपर ही नहीं किन्तु जैन धर्म के ऊपर ब्राह्मण धर्म की छाप का ही परिणाम था। गाधीजी तो विचार और आचार की सपूर्ण एकता चाहते थे। शकराचार्य और अन्य वेदान्तिओ ने भी इस विषय मे आचार और विचार की एकता की ओर ध्यान नहीं दिया। जैनो ने जो श्रमणमार्गी थे, इस विषय में आचार और विचार की एकता पर भार नहीं दिया। सर्व प्रथम एक गाधीजी ही ऐसे हुए हैं जिन्हो ने अपने लिये ही नहीं किन्तु अपने अनुयायिओ के लिये भी विचार और व्यवहार की एकता का प्रतिपादन किया है। और समाज की वर्गवहीन और वर्णविहीन रचना के लिये विशेष रूप से प्रवृत्ति की है। भारतवर्ष के समूचे सास्कृतिक इतिहास मे गाधीजी का यह प्रयत्न सर्वप्रथम है। यदि गाधीजी के इस धार्मिक सशोधन को—सभी धार्मिक नेता मान कर उनके अधूरे कार्य को पूरा करने मे लग जायें तो भारत का सास्कृतिक भविष्य नि.सदेह उज्ज्वल होगा।

भगवद्गीता ने सन्यास का अर्थ कर्म-सन्यास नही किन्तु फलसन्यास किया है यह कहा जा चुका है। कर्म को अनासक्त भाव से करने का भगवद्गीता का उपदेश है। यदि गीताकार इतनाही करके सतुष्ट होते तो भारतीय सस्कृति का रूप आज दूसरा ही होता। किन्तु इसके साथ गीताकार ने 'कर्म वही करना चाहिए जो अपने वर्ण के लिये नियत हो' ऐसा जोड़ दिया। और इसी से गीता के मूल मन्त्र की कोई कीमत न रही। गाधीजी ने प्रत्येक व्यक्ति को स्वावलम्बी बनने की सलाह दी। इसी से शूद्रो के दासकर्म और क्षत्रियो के पालनकर्म की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रही। भगी का काम भी—उन्होने स्वय किया और अपने अनुयायी से करवाया, इतना ही नहीं किन्तु सेवा मार्ग की प्रथम शर्त

और गाधीजी के कर्मयोग में फर्क इतना है कि गीता वर्णों के कर्म नियत करती है वहा गाधीजी आवश्यक कर्मों को सभी के लिये नियत करते हैं। सन्यासमार्ग का यह सशोधन मूलगामी और तात्त्विक है। इस सशोधन के ऊपर यदि धार्मिक नेताओं का ध्यान जाय तो हमारे धार्मिक सस्कारो का रूप ही बदल जाय और हम धर्म के मृतक शरीर की दुर्गन्ध से मुक्त हो कर वास्तविक धर्म की आत्मा से सम्पर्क सिद्ध करके उन्नति के शिखर पर शीघ्र ही पहुँच जायें।

अहिंसा श्रमण सरकृति और धर्म का प्राण है। भगवान् महावीर और बुद्ध ने अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा की और धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा को तो बहुत कुछ अशो में लुप्त करने में वे सफल हुए। उस अहिंसा का साम्राज्य बढ रहा था। अशोक जैसे सम्राट् हिंसक युद्धो से विरत होते देखे गये यह इसका प्रमाण है। और हिंसक युद्ध के समर्थन के लिये ही गीता जैसे शास्त्र की रचना करनी पडी यह भी अहिंसा के बढते प्रचार का प्रमाण है। गीता ने अनासक्त कर्मयोग का उपदेश देते हुएभी 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' (२–३७) कह करके आसक्ति को और हिंसा को ही बढ़ाया है, दुष्टों के दमन का कोई नया मार्ग नहीं दिखाया है। गाधीजी ने उसी गीता का पाठ करके अहिंसक सत्याग्रह का अस्त्र हमें दे करके दुष्टो के दमन का ही नहीं किन्तु दुष्टों के हृदय परिवर्तन के द्वारा ससार में से दुष्टता के निर्मूलन का नया उपाय बताया है। बताया ही नहीं है अस्त्रशस्त्र से सज्ज ब्रिटिश सैन्य का सामना अस्त्रहीन निर्जीव प्रजा में अहिंसा के बल का सचार करके, किया भी है। और सदियो से पराधीन प्रजा में नया बल और तेज का सन्चार करने में सफल भी हुए हैं। सिर्फ भारत के इतिहास में ही नहीं, ससार के इतिहास में भी गाधीजी का यह अपूर्व कार्य उन्हें अमरता प्रदान करने के लिये पर्याप्त है। गाधीजी के इस मार्ग पर यदि दुनिया के लोग चलें तो विश्व में अहिंसा का साम्राज्य प्रवर्तित होकर सच्ची शान्ति हमें मिल सकती है।

गाधीजी ने इसप्रकार श्रमणों की अहिंसा को विश्व-व्यापी रूप देकर उसकी पुन प्रतिष्ठा की है और श्रमण धर्म के उद्धार के भागी हुए हैं। अतएव हम उन्हें श्रमणो में प्रचलित क्षमाश्रमण की उपाधि दें तो उपयुक्त ही होगा।

# 'SANMATI' PUBLICATIONS

World Problems and Jain Ethics
by Dr Beni Prasad — Price 6 Ans.

1 जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा — (अप्राप्य)
लें०—प्रो० दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य चार आने

2. Jainism in Indian History — (अप्राप्य)
by Dr. Bool Chand — Price 4 Ans

3. विश्व-समस्या और व्रत-विचार
ले०—डॉ० वेनीप्रसाद — मूल्य चार आने

4 Constitution — Price 4 Ans

5 अहिंसा की साधना
ले०—श्री काका कालेलकर — मूल्य चार आने

6 परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण — मूल्य चार आने

7 Jainism in Kalingadesa
by Dr Bool Chand — Price 4 Ans

8. भगवान् महावीर
ले०—श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य चार आने

9 Mantra Shastra and Jainism — Price 4 Ans
by Dr. A. S Altekar

10 जैन-संस्कृति का हृदय — मूल्य चार आने
ले०—पं० सुखलालजी संघवी

11 भ० महावीरका जीवन—[ एक ऐतिहासिक दृष्टिपात ] — " "
ले०—पं० सुखलालजी संघवी

12 जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद — " "
ले०—पं० सुखलालजी तथा डॉ० राजबलि पाण्डेय

13 आगमयुग का अनेकान्तवाद
ले० पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य आठ आने

14. निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय [ पूर्वार्द्ध ]
ले० पं० श्री सुखलालजी संघवी — मूल्य दस आने

15. निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय [ उत्तरार्द्ध ]
ले० पं० श्री सुखलालजी संघवी — मूल्य छ आने

16 वस्तुपाल का विद्यामण्डल
ले० प्रो० भोगीलाल सांडेसरा एम ए — मूल्य आठ आने

17. जैन आगम [ श्रुत-परिचय ] — मूल्य दस आने
ले० पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया

18 कार्यप्रवृत्ति और कार्यदिशा — मूल्य आठ आने

*Write to :—*

*The Secretary,*

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY
BENARES HINDU UNIVERSITY


बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी प्रेस, बनारस ।

# श्री जैन संस्कृति संशोधन मण्डल

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

पत्रिका नं० १६


# वस्तुपाल का विद्यामण्डल


लेखक—

श्री भोगीलाल साडसरा एम० ए०

अध्यापक, गुजराती और अर्धमागधी

सेठ भो० जे० अध्ययन-संशोधन विद्याभवन

गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद ।


'सच्च लोगम्मि सारभूयं'

TRUTH ALONE MATTERS'

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY

P O Benares Hindu University

Annas Eight

## गुजरात के वीरपुरुष

# वस्तुपाल-तेजपाल

'पूर्वकालीन जैन जितने धर्मप्रिय थे उतने ही राष्ट्रभक्त भी थे और जितने राष्ट्रभक्त थे उतने ही प्रजावत्सल भी थे। उनकी लक्ष्मी का लाभ धर्म, राष्ट्र और प्रजागण समान रूप से लेते थे। वे सार्धमिकवात्सल्य भी करते थे और प्रजासघ को भी प्रीतिभोज देते थे। वे जैनमदिर भी वँधवाते थे और सार्वजनिक स्थान भी वनवाते थे। वे जैनमन्यियो को जिस भावना से सम्मानित करते थे उसी भावना से ब्राह्मण विद्वानो का भी आदर करते थे। शत्रुजय और गिरनार की यात्राओ के साथ वे लोग सोमनाथ की यात्रा भी करते थे और द्वारिका भी जाते थे।

वस्तुपाल-तेजपाल आदर्श जैन थे। उन्होने जैनधर्म का प्रभाव वढाने के लिए जितना द्रव्य व्यय किया था, उतना अन्य किसी ने किया हो, ऐसा इतिहास में नही मिलता। मध्ययुग के इतिहास काल में जितने भी समर्थ जैनश्रावक हो गये है, उन सव मे वस्तुपाल सव से महान् था और जैनधर्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। एक साधारण जैनयति के अपमान के वदल में उसने गूर्जरेश्वर महाराज वीसलदेव के मामा का हाथ कटवा दिया था। उसका स्वधर्माभिमान इतना ज्यादा उग्र था। इतना होते हुए भी उसने जैनधमस्थानो के अलावा लाखो रूपये जैनेतर धर्मस्थानो के लिए भी खर्च किए थे। सोमेश्वर, भृगुक्षत्र, शुक्लतीर्थ, वैद्यनाथ, द्वारिका, काशी विश्वनाथ, प्रयाग और गोदावरी आदि अनेक हिन्दूतीर्थस्थानो की पूजा आदि के लिए लाखो का दान किया था, सैकडो ब्रह्मशालाएँ और ब्रह्मपुरियें वनवाई थी, पथिको के आराम के लिए स्थान स्थान पर कई कुएँ, वापिकाएँ वनवाई थी, अनेक सरोवर और विद्यामठो का निर्माण किया था, अनेक ग्रामो के चारो ओर चहारदीवाली वनवाई थी, सैकडो शिवालयो का निर्माण किया था, सहस्त्रो वेदपाठी ब्राह्मणो की वार्षिक आजीविका बाँध दी थी और इन सव कार्यों के अतिरिक्त एक अनुपम और अद्भुत कार्य यह किया कि मुसलमानो के लिए अनेक मस्जीदें भी बनवा दी थी।

उसने हजारो रूपये खच कर के गुजरात की शिल्पकला के सुन्दरतम नमूने के रूप में एक उत्कृष्ट खुदाई के काम का आरसपत्थर का तोरण वनवाकर इस्लाम के पाकधाम मक्काशरीफ को अर्पण किया था। अपने धर्म में अत्यन्त चुस्त होते हुए भी अन्य धर्म के प्रति ऐसी उदारता बताने वाला और अन्य धर्मस्थानो के लिए इस ढग से लक्ष्मी का उपयोग करने वाला उसके समान अन्य कोई पुरुष, भारत वर्ष के इतिहास में मुझे तो दृष्टिगोचर नही होता। जैनधर्म ने गुजरात को वस्तुपाल जैसा असाधारण-सर्वधर्मसमदर्शी और महादानी महामात्य का अनुपम पुरस्कार दिया है।'

—आचार्य जिनविजयजी

# वस्तुपाल का विद्यामण्डल

ले०—श्रीयुत भोगीलाल साडेसरा; एम-ए.
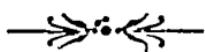
त्यागा कुड्मलयन्ति कल्पविटपित्यागक्रियापाटवम्
काम काव्यकलापि कोमलयति द्वैपायनीय वच ।
बुद्धिर्धिक्कुरुते च यस्य धिषणा चाणक्यचिन्तामणे
सोऽय कस्य न वस्तुपालसचिवोत्तस' प्रशसास्पदम् ॥

—नरेन्द्रप्रभसूरिकृत अलकारमहोदधि

सत्कविकाव्यशरीरे दुष्यदगददोषमोषणकभिषक् ।
श्रीवस्तुपालसचिव सहृदयचूडामणिर्जयति ॥

—सोमेश्वरकृत उल्लाघराघव

बाल मूलराज, भीमदेव द्वितीय, लवणप्रसाद, वीरधवल और वीसलदेव का काल—विक्रमकी तेरहवी शताब्दी का उत्तरार्घ और चौदहवी शताब्दी का प्रारम्भ-काल यह गुजरात में सस्कृत विद्या के विलास का काल है। वीरधवल और वीसलदेव मालवे के प्रसिद्ध राजा मुज और भोज की भांति अपनी सभा में पण्डितो को रखते ही थे किन्तु इस युग में विद्याप्रचार को सबने ज्यादा वेग मिला था धोलका के राना वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल की ओर से। इस समय की साहित्यप्रवृत्ति में स्वय वस्तुपाल की प्रेरणा ही अधिकांश में कारणभूत थी।

वस्तुपाल एक वीर योद्धा और निपुण राजपुरुष ही नहीं थे, वे साहित्य-रसिक, साहित्य-विवेचक और कवि भी थे। श्री कृष्ण और अर्जुन की मैत्री, रैवतक पर उनका विहार और अन्त में अर्जुन के द्वारा किया गया सुभद्रा-हरण, इन महाभारतीय प्रसंगो का १६ सर्गों में कवित्वपूर्ण वर्णन करते हुए, नरनारायणानन्द नाम का महाकाव्य उन्होंने रचा है। गूर्जर देश के ही पूर्वकालीन महाकवि माघ के शिशुपालवध की शैली से लिखा गया प्रस्तुत काव्य, विवेचना के प्रत्येक दृष्टिकोण से माघ की उस महान् रचना के साथ टक्कर लेने वाला है। इसके उपरान्त शत्रुंजयमण्डन-आदिनाथस्तोत्र, गिरनारमण्डन-नेमिनाथस्तोत्र, अम्बिकास्तोत्र आदि स्तोत्र तथा कई श्लोकों

आराधना ये वस्तुपाल के काव्य उपलब्ध है। वस्तुपालरचित सुभाषित, जल्हण की सूक्तिमुक्तावलि और शार्ङ्गधर की शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किये गये हैं। गुजरात में ग्रथित मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखरकृत चतुर्विंशतिप्रबंध, जिनहर्षकृत वस्तुपालचरित और पुरातनप्रबन्धसग्रह आदि प्रबन्धात्मक ग्रन्थो में भी वस्तुपाल की सूक्तियाँ मिलती हैं। सूक्तियो की रचना में वस्तुपाल को विशिष्ट रस था, इतना ही नही किन्तु सूक्तिरचना में उनकी कविप्रतिभा का वैशिष्ट्य प्रगट होता था, यह बात भिन्न भिन्न प्रबन्धो में उद्धृत किसी अज्ञात कवि के नीचे के श्लोक पर से प्रतीत होती है:—

**पीयूषादपि पेशला शशधरज्योत्स्नाकलापादपि**
**स्वच्छा नूतनचूतमञ्जरिभरादप्युल्लसत्सौरभाः।**
**वाग्देवीमुखसामसूक्तविशदोद्गारादपि प्राञ्जलाः**
**केषां न प्रथयन्ति चेतसि मुदं श्रीवस्तुपालोक्तयः॥**

सोमेश्वर ने भी अपने "उल्लाघराघव" नाटक में इसी वस्तु का समर्थन करते हुए कहा है कि—

**अम्भोजसंभवसुता वक्त्राम्भोजेऽस्ति वस्तुपालस्य।**
**यद्वीणारणितानि श्रूयन्ते सूक्तिदम्भेन॥**

वस्तुपाल की काव्यकला की मौलिकता का वर्णन करते हुए यही कवि अपनी आबूप्रशस्ति में लिखता है कि—

**विरचयति वस्तुपालश्चुलुक्यसचिवेषु कविषु च प्रवरः।**
**न कदाचिदर्थग्रहणं श्रीकरणे काव्यकरणे वा॥**

एक समकालीन कवि ने वस्तुपाल को "कूर्चालसरस्वती" (दाढीवाली सरस्वती) की उपमा दी है और दूसरे ने उनको "सरस्वतीकण्ठाभरण" कहकर पुकारा है। "वाग्देवीसूनु और "सरस्वतीपुत्र" ये भी उनके उपनाम रहे। कवियो के आश्रयदाता होने मे वे "लघुभोजराज" कहलाते थे। प्रबन्धो में वर्णन है कि पडितो और कवियो को उन्होने लाखोका दान दिया था। और लाखो रुपये खर्च करके भडोच, खभात और पाटण में ज्ञान-भडार स्थापित किये थे। यह सब उनकी अपूर्व विद्याप्रियता का परिचायक है। स्वय उनका ग्रन्थ-भडार भी अतीव समृद्ध था। राज कारोबार जैसे अतिशय प्रवृत्तिमय जीवन में से भी, सरस्वतीसेवा के लिए वे काफी समय निकाल लेते थे। उनके खुद के ही हस्ताक्षरो से

सं० १२९० में लिखी गई उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय महाकाव्य की ताड़-पत्रीय प्रति खंभात के भंडार में मौजूद है। "धोलका युनिवर्सिटी' के नामसे आजकल उपहासास्पद बना हुआ "धोलका" वस्तुपाल की छाया के नीचे, गुजरात का एक सच्चा विद्याधाम बना था।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और चौदहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गुजरात में जो मूल्यवान्-समृद्ध संस्कृत साहित्य रचा गया है वह मुख्यरूपसे वस्तुपाल के विद्यामंडल की साहित्यप्रवृत्ति का और वस्तुपाल के खुद के आश्रय और उत्तेजना का परिणाम है। विद्यामंडल में राजपुरोहित सोमेश्वर, हरिहर, नानाक पंडित, मदन, सुभट, मंत्री यशोवीर और अरिसिंह आदि थे। वस्तुपाल के अतिसंपर्क में आये हुए कवि और पंडितो में अमरचन्द्रसूरि, विजयसेन सूरि, उदय-प्रभसूरि, नरचन्द्र सूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, बालचन्द्रसूरि, जयसिंह सूरि तथा माणिक्यचन्द्र आदि जैनसाधुओंके नाम गिन सकते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे अनेक कवि तथा जिनके नाम आज नहीं मिलते हैं एसे अनेक पंडित वस्तुपाल के पास में विद्यमान थे। उन सब का तथा उनकी साहित्यप्रवृत्ति का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास यहां किया जाता है।

## सोमेश्वर

यस्यास्ते मुखपङ्कजे सुखमृचा वेदः स्मृतीर्वेद य-
स्त्रेता सद्मनि यस्य यस्य रसना सूते च सूक्तामृतम्।
राजानं श्रियमर्जयन्ति महतीं यत्पूजया गूर्जरा
कर्तुं तस्य गुणस्तुतिं जगति कः सोमेश्वरस्येश्वरः॥

—वस्तुपाल

श्रीसोमेश्वरदेवकवेरवेत्य लोकम्पृण गुणग्रामम्।
हरिहर-सुभटप्रभृतिभिरभिहितमेव कविप्रवरैः॥
वाग्देवतावसन्तस्य कवेः श्रीसोमशर्मणः।
धिनोति विबुधान् सूक्तिः साहित्याम्भोनिधेः सुधा॥
तव वक्त्र शतपत्र सद्वर्ण सर्वशास्त्रसम्पूर्णम्।
अवतु निजं पुस्तकमिव सोमेश्वरदेवशारदेवी॥

—सुरथोत्सवमहाकाव्य-प्रशस्ति-

पुरोहित सोमेश्वर, वस्तुपाल का इष्ट मित्र था। उनके रचे हुए सुरथोत्सवमहाकाव्य की प्रशस्ति परसे मालूम होता है कि उनके पूर्वज, मूलराज

के समयसे राजपुरोहित का कार्य करते थे । वड्नगरके गुलेचा गोत्रका सोमनामक विद्वान् ब्राह्मण उसके वशका मूल पुरुष था । मूलराज का वह पुरोहित था। सोमका पुत्र लल्लशर्मा, चामुड का; और लल्ल का पुत्र मुज, दुर्लभराज का पुरोहित था। मुज का पुत्र कुमारशर्मा, सिहराज का पुरोहित था। कुमारशर्मा का पुत्र सर्वदेव था और सर्वदेवका आमिग तथा आमिग का सर्वदेव ( द्वितीय ) हुआ। उसने कुमारपाल की अस्थिए गगा में वहाई थी। इस सर्वदेव के लघु भ्राता कुमार की लक्ष्मी नामक स्त्री से महादेव, सोमेश्वर और विजय नामक तीन पुत्र हुए। इनमें से सोमेश्वर भीमदेव, वीरधवल और वीसलदेव का राजपुरोहित हुआ। वस्तुपाल और उसके वीच मैत्री की दृढग्रन्थि बध गई और वस्तुपाल के आश्रय से उसकी सारस्वतसेवा को खूब पुष्टि मिली।

सोमेश्वर के ग्रन्थोमें कीर्तिकौमुदी, सुरथोत्सव, रामशतक और उल्लाघराघव नाटक प्राप्त हुए हं। इसके अतिरिक्त वस्तुपाल तेजपालसे निर्मित आबू स्थित लूणवसही की प्रशस्ति तथा गिरनार के जीर्णोद्धृत मन्दिर की प्रशस्ति, सोमेश्वर के द्वारा बनाई हुई है। वीरधवल के द्वारा धोलका में निर्मित वीरनारायण प्रासाद की १०८ श्लोक की प्रशस्ति भी सोमेश्वर की रचना है ऐसा चतुर्विंशति प्रबन्ध से मालूम होता है। यह प्रासाद और उसकी प्रशस्ति अभी विद्यमान नही है। भीमदेव की सभा को, सोमेश्वरने यामार्द्ध में एक नाटक रचकर हर्षित किया था, ऐसा उसने सुरथोत्सव की प्रशंस्ति में लिखा है। वह नाटक उल्लाघराघव से भिन्न होना चाहिए क्योकि उल्लाघराघव तो सोमेश्वरने अपने पुत्र भल्लशर्मा की प्रार्थना से लिखा था, ऐसा उसमें उल्लेख है। सुरथोत्सव की प्रशस्ति में जिसका उल्लेख है वह नाटक अप्राप्य है। *

नो सर्ग का कीर्तिकौमुदी महाकाव्य, सोमेश्वर ने अपनें आश्रयदाता मत्री की प्रशस्ति में लिखा है किन्तु वस्तुपाल चरित्र और गुजरात के वाघेला राजाओ के इतिहास का इतना तादात्म्य सम्बन्ध है कि गुजरात के इतिहास के अभ्यास के लिए भी यह काव्य अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। प्रारभ में अणहिलपुर का वर्णन करके कवि ने मूलराज से लगाकर भोले भीम तक के तथा बाद के वाघेला

---

* सुरथोत्सव'के संपादकों के मत से सोमेश्वर ने काव्य प्रकाश की काव्यादर्श नामक टीका लिखी थी। किन्तु वह सोमेश्वर तो भारद्वाजगोत्रीय देवक का पुत्र होने से प्रस्तुत सोमेश्वर से भिन्न ही है।

शाखा के अर्णोराज से लगाकर वीरधवल तक के राजाओ का इतिहास दे दिया है। तदुपरान्त वस्तुपाल-तेजपाल की मन्त्रीपद पर की गई नियुक्ति का तथा लाटपति शंखका और मारवाड से चढ़कर आये हुए चार राजाओ का मंत्री ने एक साथ कैसे पराजय किया, इसका वर्णन है। विजय के बाद, महाकाव्य की रूढि के अनुसार पुरप्रमोद तथा चन्द्रोदय का वर्णन किया है। तदुपरान्त मंत्री का परमार्थ-विचार निरूपित किया है, जिसमें सूर्योदय का वर्णन करते हुए, कवि नें संसार की असारता का बोध दिया है और अन्त में मंत्री से की गई शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा का विस्तृत वर्णन करके कीर्तिकौमुदी की समाप्ति की है।

कीर्तिकौमुदी का महत्त्व केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही नही है। काव्यदृष्टि से भी, मध्यकालमें रचे गये काव्यो की प्रथमश्रेणी में इसका स्थान आता है। वस्तुपाल का नरनारायणानंद जैसे माघ के ढंग से रचा गया है वैसे ही कीर्ति-कौमुदी में कालिदास की रीति का प्रशस्य अनुसरण किया गया है। इस प्रकार वस्तुपाल और सोमेश्वर ने अपने समर्थ पुरोगामियों की काव्यपरंपरा को बहुत सुन्दर ढंगसे कायम रखी है। यदि प्रसिद्ध संस्कृत पंचमहाकाव्यो को एक ओर रखा जाय तो बाकी के संस्कृत महाकाव्यो में उनकी कृतियाँ निःसन्देह अग्रिम-स्थान प्राप्त कर लेती है।

पन्द्रह सर्गका सुरथोत्सव महाकाव्य, भोले भीमदेव के समय में, अणहिल-वाड में पैदा हुई राजकीय अव्यवस्था को अनुलक्षित करके रचा हुआ मालूम होता है। मार्कण्डेय पुराणान्तर्गत देवी माहात्म्य की सामग्री कवि ने अपने काव्य में ली है। कथा इस प्रकार से है कि स्वारोचिष मन्वन्तर में चैत्रवंश के सुरथराजा के मंत्री उसके शत्रु के साथ मिल गये थे अतः उनका राज्य चला गया था। पराजय से दुःखी होकर उसने अरण्य में निवास कर लिया। यहा मेध नाम के एक मुनि का समागम हुआ। उस मुनि ने उसको भवानी की आरा-धना करने के लिए कहा और देवीमाहात्म्य में वर्णित भवानी के पराक्रम का भी वर्णन किया। सुरथ ने तपश्चर्या करके भवानी का प्रसाद लिया। देवी ने उसको, थोडे समय में राज्य वापिस मिलने का आशीर्वाद दिया। इतने में सुरथ के स्वामीभक्त सेवक, उनके कृतघ्न मंत्रियो का नाश करके, उसको खोजते खोजते आ पहुचे और राजधानी में ले जाकर, धूमधाम से उसका अभिषेक किया।

भोले भीमदेव को राज्यभ्रष्ट करके, जयतसिंह नामक कोई सामन्त, अभि-नव सिद्धराज नाम धारण करके, अणहिलवाड की गद्दी पर कुछ समय तक बैठा

था। स० १२८० का उसका एक शासनपत्र भी मिलता है। इसके बाद भीम-देव का दूसरा शासनपत्र स० १२८३ का मिलता है। इससे मालूम होता ह कि जयतसिंह ने अति अल्पकालके लिये राज्य किया था। सभव है कि इस समकालीन प्रसग को देखकर, सोमेश्वर को कविप्रतिभा, सुरथोत्सव की रचना के लिए प्रेरित हुई हो।

इस काव्य के प्रथमसर्ग में ही अपने काव्य के आदर्शभूत कालिदास के कवित्व के प्रति पक्षपात व्यक्त करते हुए कवि कहता है कि—

श्रीकालिदासस्य वचो विचार्य नैवान्यकाव्ये रमते मतिर्मे।
किं पारिजात परिहृत्य हन्त भृङ्गालिरानन्दति सिन्धुवारे॥

उल्लाघराघव यह रामायण की कथा का नाटकरूपसे निरूपण करनेवाली कृति है। इसके प्रत्येक सर्ग के अन्त मे कवि ने वस्तुपाल की प्रशसा का एक श्लोक रखा है। यह नाटक, द्वारका के जगत्-मन्दिर मे प्रबोधिनी एकादशी के रोज खेला गया था।

रामशतक, सोमेश्वर का एक सुन्दर स्तुतिकाव्य है।

इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रबन्धो मे सोमेश्वर के सख्याबद्ध शीघ्रकाव्य, स्तुतिकाव्य, समस्यापूर्तिया और प्रशसात्मक प्रासगिक पद्य मिले है।

वस्तुपाल और सोमेश्वर का मैत्रीसम्बन्ध, वस्तुपाल के जीवन के अन्तकाल तक बना रहा था। राजा वीसलदेव के मामा सिंह ने एक जैनसाधु का अपमान किया था। कुछ लोगो का कहना है कि सिंह ने वस्तुपाल के नौकर को मार दिया था। इस बात से क्रोधित होकर वस्तुपाल ने सिंह का हाथ काट दिया था। वीसलदेव ने वस्तुपाल को मौत को सजा सुनाई किन्तु पुरोहित सोमेश्वर ने राजा को समझाकर वस्तुपाल की जान बचा दी थी। इन्ही दिनो वस्तुपाल को बुखार आने लगा। वस्तुपाल और तेजपाल दोनो भाई मिलकर शत्रुंजय की तरफ चले किन्तु वहा पहुँचने के पूर्व ही वस्तुपाल की मृत्यु हो गई।

## हरिहर

मुधा मधु मुधा सीधु मुधा सोऽपि सुधारसः।
आस्वादित मनोहारि यदि हारिहर वचः॥

—वस्तुपाल

स्ववाक्पाकेन यो वाचा पाकं शास्त्यपरान् कवीन् ।
स्वयं हरिहरः सोऽभूत् कवीनां पाकशासनः ॥

कीर्तिकौमुदी

संस्कृतपद्यकाव्यों में सुप्रसिद्ध नैषधीय चरित के कर्ता श्री हर्ष के वंश में हरिहर पण्डित हुआ था। वह अपने प्रान्त गौडदेश से निकल कर, मार्ग में लोगों को अन्नदान देता हुआ, भारी समृद्धिपूर्वक, धोलके में वीरधवल की राजसभा में आया था किन्तु उसका आगमन, सोमेश्वर से सहन नहीं हुआ और इसी लिये जिस समय हरिहर सभा में आया था उस समय वह वहाँ पर नहीं रहा अतः हरिहर ने सोमेश्वर का गर्व-खण्डन करने का निश्चय किया। एक बार सभा एकत्रित हुई थी उस समय राणा ने हरिहर को कहा "हे पण्डित ! इस नगर में हमने वीरनारायण नामक एक प्रासाद बनवाया है, उसकी प्रशस्ति के १०८ काव्य सोमेश्वर ने बनाये हैं, उनको सुनकर परीक्षा करो।" तब सोमेश्वर ने उन काव्यों का पाठ किया। उनको सुनकर हरिहर ने कहा "हे देव ! काव्य अति सुन्दर है और मेरे परिचित हैं क्योंकि मालव देश की उज्जयिनी नगरी में मैं गया था और वहाँ पर सरस्वतीकण्ठाभरण नामक प्रासाद के गर्भ-गृह की पट्टिका पर, भोजदेव के वर्णनरूप इन काव्यों को मैंने देखे थे। यदि आप को इस बात पर श्रद्धा न हो तो मैं इन सब काव्यों को परिपाटी पूर्वक बोल सकता हूँ," ऐसा कहकर उसने इन काव्यों को अस्खलित रूप से बोलकर बता दिये। इससे राणा को और वस्तुपाल को दुःख हुआ और सोमेश्वर तो मारे शर्म के जड-सा बन गया।

सोमेश्वर ने वस्तुपाल के घर जाकर कहा कि "हे मन्त्री ! ये काव्य मेरे ही हैं। तुम मेरी शक्ति जानते हो। हरिहर ने तो मेरी विडम्बना की है।" फिर वस्तुपाल, सोमेश्वर को साथ लेकर हरिहर के पास गया। हरिहर ने सोमेश्वर से आलिंगन किया और उसका सत्कार किया। सोमेश्वर ने कहा कि "हे पण्डित ! काव्यचोरी के कलंक से तुम मुझे मुक्त करो।" हरिहर ने प्रसन्नतापूर्वक ऐसा करना स्वीकार किया। दूसरे दिन सभा एकत्रित होने पर हरिहर ने कहा—"परमेश्वरी भारती की सर्वत्र जय होती है, जिसके प्रसाद से मुझे ऐसी शक्ति प्राप्त हुई है।" वस्तुपाल ने पूछा "कैसी शक्ति ?" हरिहर ने उत्तर दिया कि "कावेरी नदी के तीर पर सारस्वतमन्त्र की साधना करके मैंने सरस्वती को प्रसन्न की थी। देवी के वरदान से किसी भी १०८ पद्यों को

अवधारणा के लिए मैं समर्थ हूं जैसे सोमेश्वर के १०८ काव्य।" तत्पश्चात हरिहर ने दूसरे १०८ काव्य का पाठ सुनकर उनका पुनरुच्चारण करके अपनी शक्ति की प्रतीति सबको करा दी। राणा ने पूछा "तब तुमने सोमेश्वर को किस लिए दूषित किया ?" हरिहर ने कहा—"उसने मेरी अवज्ञा की थी, उसी का फल मैंने उसको चखाया है।" राणा ने कहा—"सरस्वतीपुत्रो में परस्पर स्नेह होना चाहिए।" ऐसा कहकर उन दोनो के बीच मैत्री स्थापित करा दी। सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी में हरिहर की जो प्रशसा की है और सुरथोत्सव के अतिम सर्ग में हरिहर ने भी सोमेश्वर की काव्यरचना को जिस ढग से प्रशसित किया है, उसे देखते हुए तो ऐसा मालूम होता है कि बाद में उनकी मैत्री अति प्रगाढ हो गई थी।

वीरधवल की राजसभा मे काव्यगोष्ठि होती थी उसमें हरिहर, नैषध के श्लोक बोलता था। नैषध काव्य उस समय गुजरात में प्रचलित नही हुआ था इस लिए इस नये काव्य के कवित्वपूर्ण श्लोको को सुनकर वस्तुपाल आदि अति आनन्दित होते थे। एक बार वस्तुपाल ने हरिहर को पूछा—"पडित! यह कौन-सा ग्रन्थ है ?" पडित ने उत्तर दिया—"श्री हर्षकृत नैषध महाकाव्य" वस्तुपाल ने कहा—" उसकी प्रति मुझे दिखाओ।" पडित ने कहा—"यह ग्रंथ अन्यत्र उपलब्ध नही है अत चार प्रहर के लिये ही उसकी हस्तलिखित पुस्तिका तुमको दूंगा।" तब फिर मन्त्री ने लेखको से एक रात्रिमें ही सारी पुस्तक लिखवा डाली। बादमें उसके ऊपर सुगन्धित द्रव्य डालकर, पुराने धागे से बांधकर, पुरातन-ग्रथ सदृश बनाकर रख दी। प्रातःकाल होते ही पडित को अपनी पुस्तक वापिस देकर वस्तुपाल ने कहा कि हमारे भडार में भी यह शास्त्र है, ऐसा मुझे स्मरण आता है, इसलिए खोज करो। बाद मे वह नवीन प्रति कुछ विलम्ब से खोजी गई और खोलने पर "निपीय यस्य क्षितिरक्षिण" कथाः से लगाकर अन्तिम तक का नैषध निकल पडा। पडित ने कहा कि "मत्री! यह तुम्हारी ही माया है।" इस प्रकार से मत्रीने हरिहर को भी गर्वमुक्त कर दिया।

वस्तुपाल द्वारा नकल कराने के बाद नैषध का गुजरात में बहुत प्रचार हुआ। असाधारण काव्यप्रतिभा और पाँडित्य से मडित इस महाकाव्य पर पुरानी से पुरानी और प्रमाणभूत टीकाएँ गुजरात में ही लिखी गई है।×

---

×नैषध की सबसे प्राचीन, विद्याधर की टीका वीसलदेव के भारतीभडार की प्रतिके

स्वयं वस्तुपाल के द्वारा की गई, हरिहर के काव्यों की प्रशंसा परसे उसकी कवित्वशक्तिकी कल्पना आ जाती है। प्रबन्धों में उद्धृत हुए शीघ्रकाव्य और सोमनाथ के दर्शन करते समय उसके बनाये हुए स्तुतिकाव्यों के सिवाय, हरिहर की अन्य रचनाएँ आज नहीं मिलती हैं। श्री हर्ष के वंश में उत्पन्न यह कवि, महाकवि बाण की भाँति, गर्भश्रीमन्त होता हुआ भी वस्तुपाल की कीर्ति से आकर्षित होकर, गौडदेशसे गुजरात तक आया था। यह वस्तु, गुजरात की सरस्वतीसेवाने समस्त भारतवर्ष में जो कीर्ति प्राप्त की थी उसकी सूचक है।

## मदन

हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजाङ्कुशो मदनः।

—मदन

पुरातन काल की राजसभाओं में तथा अन्यत्र जहाँ कहीं भी अनेक कवि एकत्रित होते थे वहाँ पर उन लोगों में अनिवार्य रूप से स्पर्धा होती थी। कभी तो यह स्पर्धा उग्र रूप धारण कर लेती थी। वस्तुपाल की सभा में हरिहर और मदन के बीच में सब वादविवाद होता था। मदन पण्डित कौन और कहाँ का था? इस विषय में कुछ जानकारी नहीं मिलती किन्तु प्रबन्धकार ने हरिहर और मदन को "महाकविश्वरौ" कहे है, इससे मालूम पड़ता है कि मदन भी कोई साधारण कोटि का पण्डित नहीं था। उसकी कुछ सूक्तियाँ प्रबन्धों में मिलती हैं। वह और हरिहर परस्पर मत्सरभाव रखते थे। इसी कारण से वस्तुपाल ने दौवारिक को आज्ञा दे रखी थी—"जब इन दो पण्डितों में से एक पण्डित अन्दर हो तब दूसरे को नहीं आने देना" किन्तु एक बार हरिहर, मंत्री के साथ विद्याविनोद कर रहा था उस समय मदन आ पहुँचा। आकर उसने कहा—

"हरिहर परिहर गर्वं कविराजगजाङ्कुशो मदनः।"

यह सुनकर हरिहर बोला—

"मदन विमुञ्च वदनं हरिहरचरितं स्मरातीतम् ॥"

तब मत्री ने विनोद में कहा—"जो मी काव्य पहले रच लेगा, उसी को मैं महाकवि कहूंगा ।" मदन ने त्वरापूर्वक नरियल के वर्णन में एक सौ काव्य रच लिये । हरिहर साठ काव्य ही रच पाया । तब मत्री ने कहा—"हरिहर हार गये" हरिहर बोला—

रे रे ग्रामकुविन्द कन्दलयता वस्त्राण्यमूनि त्वया ।
गोणीविभ्रमभाजनानि बहुश स्वात्मा किमायास्यते ।।
अप्येक रुचिर चिरादभिनवं वासस्तथा सूय्यताम् ।
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृता वल्लभा. ।।

यह सुनकर मत्री ने हर्ष से दोनो का सत्कार किया ।

## सुभट

सुभटेन पदन्यास. स कोऽपि समितौ कृत ।
येनाधुनापि धीराणा रोमाञ्चो नापचीयते ।।

—कीर्तिकौमुदी

वस्तुपाल के विद्यामडल के कवि नरचन्द्र, विजयसेन, हरिहर आदि के साथ में सुभट की स्तुति भी सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी के मगलाचरण में की है । सुरथोत्सव की प्रशस्ति मे अपने कविताविषयक, सुभट और हरिहर के प्रशसात्मक अभिप्राय को भी उसने लिखा है, उससे भी मालूम होता है कि सुभट और सोमेश्वर का गाढ परिचय था । अगदविष्टि के पौराणिक प्रसग का निरूपण करने वाला सुभट का छोटा-सा दूतागद छाया-नाटक प्राप्त होता है । यह नाटक त्रिभुवनपाल की आज्ञा से पाटण में खेला गया था । इसके कई श्लोक सुभट की उच्च कविप्रतिभा की साक्षी देते है । दूतागद की प्रस्तावना में सुभट ने स्वय को "पदवाक्यप्रमाणपारगत" कहा है । इसको देखने से ऐसा मालूम होता है कि इसने प्रमाणशास्त्र के विषय में कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा ।

इस छाया-नाटक में सुभट ने स्वरचित श्लोको के अतिरिक्त भवभूति, राजशेखर आदि पूर्वकालीन कवियो के श्लोक भी लिये है और नाटक के अन्त में उनका ऋण भी स्वीकार किया है—

स्वनिर्मित किञ्चन गद्यपद्यबन्ध कियत्प्राक्तनसत्कवीन्द्रैः ।
प्रोक्त गृहीत्वा प्रविरच्यते स्म रसाढ्यमेतत्सुभटेन नाट्यम् ।।

# नानाकपंडित

मुखे यदीये विमल कवित्वं
बुद्धौ च तत्त्वं हृदि यस्य सत्त्वम् ।
करे सदा दानमथावदानं
पादे च सारस्वततीर्थयानम् ॥
काव्येषु नव्येषु ददाति कर्णं
प्राप्नोति यः संसदि साधुवर्णम् ।
विभूषणं यस्य सदा सुवर्णं
प्राप्ते तु पात्रे न मुच विश्रणम् ॥

—सरस्वतीसदन प्रशस्ति

नानाक पंडित, आनन्दपुर का कापिष्ठल-गोत्रीय नागर-ब्राह्मण था। उसके पिता का नाम गोविंद था। गोविंद के तीन पुत्रों में नानाक बीच का था। उसके कुटुम्ब में विद्वत्ता वंशपरंपरा से चली आती थी। नानाक ने कातन्त्र व्याकरण का सम्पूर्ण अभ्यास किया था। रामायण, महाभारत, पुराण और स्मृतियों में वह पारंगत था। काव्य, नाटक और अलङ्कार में वह निपुण था तथा सम्पूर्ण ऋग्वेद का ज्ञाता था। सारंगदेव वाघेला के समय का एक अधूरा शिलालेख, वंथली में मिला है, उसके अन्त में प्रशस्तिकार के कुटुम्ब के विषय में जो हकीकत दी गई है उस से मालूम होता है कि वह नानाक की रचना है। वीसलदेव की राजसभा में जिन्होंने अमरचन्द्रसूरि की कवित्वशक्ति की परीक्षा की थी उनमें नानाक भी था। नानाक की कोई स्वतन्त्र कृति अभी तक जानने में नहीं आई है। उसने सं० १३२८ में प्रभास के सामुद्रिक किनारे पर सारस्वत-सदन बांधा था। उसकी दो प्रशस्तियों से नानाक और उसके कुटुम्ब के विषय में बहुत बातें जानने को मिलती हैं। राजा वीसलदेव ने नानाक को विपुल दान दिया था।

## यशोवीर

प्रकाश्यते सदा साक्षात् यशोवीरेण मन्त्रिणा ।
मुखे दन्तद्युता ब्राह्मी करे श्री. स्वर्णमुद्रया ।।

—कीर्त्तिकौमुदी

यशोवीर वस्तुपाल का पक्का मित्र था और झालोर के चौहान राजा उदयसिंह का मन्त्री था। "वस्तुपालयशोवीरौ सत्य वाग्देवतासुतौ" इस प्रकार से सोमेश्वर ने दोनो मित्रो की स्तुति की है । इसी मैत्री के कारण उसको "कवीन्द्रवन्धु" की पदवी मिली थी । वह राजनीतिनिपुण होने के उपरान्त वहुश्रुत विद्वान् और निपुण कवि भी था । वस्तुपाल के साथ उसका मिलाप, आबू पर नेमिनाथ के मन्दिर में, प्रतिष्ठामहोत्सव के प्रसग पर हुआ था । उस समय यशोवीर ने वस्तुपाल का एक कवित्वपूर्ण श्लोक से स्वागत किया था *। वस्तुपाल ने भी यशोवीर की कवित्वमय प्रशसा के कई श्लोक वनाये थे जो कि प्रवन्धो में मिलते है ।

यशोवीर, शिल्पशास्त्र का भी उत्तम ज्ञाता था । आवू के मन्दिरोके शिल्पकार्य में उसने कुछ दोप वताये थे ।

विख्यात आलकारिक माणिक्यचन्द्र ने भी यशोवीर की स्तुति करते हुए कहा है कि—

"यशोवीर लिखत्यास्या यावच्चन्द्रे विधिस्तव ।
न माति भुवने तावदाद्यमप्यक्षरद्वयम्।। "

—पुरातनप्रवन्धसग्रह, पृ० ५०

वस्तुपाल की भाँति यशोवीर ने भी कवियो और चारणो को दान दिया था । उसके सस्कृत और अपभ्रश स्तुतिकाव्य, प्रवन्धो में मिलते है ।

## अरिसिंह

यत्कवेर्लवर्णसिहजन्मनः काव्यमेतदमृतोददीर्घिका ।
वस्तुपालनवकीर्तिकन्यया वन्यया किमपि यत्र खेलितम् ।।

—अमरचन्द्रसूरि

---

* पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृ० ७० ।

ठाकुर अरिसिंह के पिता का नाम लवणसिंह था। चतुर्विंशतिप्रबन्ध के अनुसार, वह वायटगच्छ के जीवदेवसूरि का भक्त था। इससे मालूम होता है कि यह जैन था। वह गृहस्थ था तो भी प्रसिद्ध साधुकवि अमरचन्द्रसूरि को काव्यदीक्षा देने का यश उसी को मिला है। अमरचन्द्रसूरि स्वयं भी यह स्वीकार करते हैं और अरिसिंह को "सारस्वतामृतमहार्णवपूर्णिमेन्दु" कहकर पुकारते हैं। चतुर्विंशतिप्रबन्धकारने अरिसिंह को अमरचन्द्र का "कलागुरु" कहा है। जल्हण की सूक्तिमुक्तावलि में अरसी ठक्कुर के चार सुभाषित उद्धृत हैं। यह अरसी और यह अरिसिंह अभिन्न मालूम पडते हैं। अमरचन्द्र ने अपने कलागुरु अरिसिंह का राजा वीसलदेव से परिचय जब कराया था उस समय के तथा वस्तुपाल के साथ के प्रास्ताविक विनोद के समय में अरिसिंह रचित अन्य सन्धावद्ध शीघ्रकाव्य मिलते हैं। अरिसिंह की मुख्य रचना, सुकृतसंकीर्तन नामक ग्यारहसर्गका महाकाव्य है जो कि वस्तुपाल के सुकृत्य-वर्णनरूप है। उसमें वनराजसे लेकर सामंत सिंह तकके, मूलराज से लगाकर भीमदेव तक के तथा अर्णोराजसे लगाकर वीरधवल तक के राजाओं का संक्षिप्त इतिहास देकर वस्तुपाल का विस्तृत चरित वर्णन किया गया है। विशेषत उसकी यात्राओं का वर्णन किया गया है। इस काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अमरपंडित—अमरचन्द्रसूरि विरचित पांच श्लोक दिये गये हैं। इनमें से प्रथम तीन श्लोक वस्तुपाल की प्रशंसा के और चौथा अरिसिंह तथा उसकी काव्यचातुरी की प्रशंसा का है। उपर्युक्त चार श्लोक, अमरपंडितरचित हैं, ऐसा पंचम श्लोक में लिखा गया है।

## अमरचन्द्र सूरि

।। पद्मन्त्रप्रवरो महाव्रतधरो वेणीकृपाणोऽमर ।।

—नयचन्द्रसूरिकृत हम्मीरमहाकाव्य

नही है। उनकी अन्य रचनाओ में छन्दोरत्नावली, स्यादिशब्दसमुच्चय और पद्मानन्द काव्य हैं। पद्मानन्द काव्य, पाटण के एक वणिक् पद्म की विनती से रचा गया था। उसमें तीर्थंकरो के चरित्र होने से वह जिनेन्द्रचरित भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सूक्तावली और कलाकलाप नामक दो ग्रन्थ के नाम चतुर्विंशति प्रबन्ध में मिलते हैं।

अमरचन्द्र, विवेकविलास के कर्त्ता वायडगच्छीय सुप्रसिद्ध जिनदत्तसूरि के शिष्य थे। चतुर्विंशति प्रबन्ध के अनुसार, अरिसिंह के पास से अमरचन्द्र को सिद्धसारस्वतमत्र मिला था और उसका इक्कीस दिवसपर्यन्त जाप करने से सरस्वती ने उनको सिद्ध कवि होने का वरदान दिया था। तत्पश्चात् वीसलदेव की बिनती से अमरचन्द्र उसके दरबार में आये थे। उस समय सभा में उपस्थित कवियो ने अमरचन्द्र को समस्याएँ पूछी थी और इस प्रसग पर अमरचन्द्र ने १०८ समस्याओ की पूर्ति की थी, ऐसा प्रबन्धकार बतलाते है।

जैसे अरिसिंह के सुकृतसकीर्तन के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अमरचन्द्र ने पाँच श्लोक रखे थे उसी प्रकार अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता के कुछ सूत्र, अरिसिहराचत हैं।

अमरचन्द्र के शीघ्रकवित्व का एक प्रसग, उपदेशतरगिणी में मिलता है। एक बार वस्तुपाल, अमरचन्द्रसूरि के व्याख्यान में आया था किन्तु द्वार में घुसते समय उसने आचार्य के मुख से सुना—

अस्मिन्नसारे ससारे सार सारङ्गलोचना।

यह सुनकर "मुनि का चित्त स्त्री कथा में आसक्त है" ऐसा समझ कर वस्तुपाल ने उनको वदन नही किया। तब आचार्य ने श्लोक का दूसरा चरण कहा—

यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपाल भवादृशाः।

यह सुनकर वस्तुपाल आश्चर्यचकित होगया और मानपूर्वक मुनिराज को वन्दना की।

दीपिकाकालिदास और घण्टामाघ की भाति अमरचन्द्र, सस्कृत साहित्य में "वेणीकृपाणोऽमर" के नाम से प्रसिद्ध है क्योकि बालभारत के प्रभात वर्णन में, दधिमथन करती हुई तरुणी के वर्णन में उन्होने वेणी को अनग के कृपाण की उपमा दी है।

दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणीदम्भा-
दयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता ।
भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाण-
श्रममिव दिवसादौ व्यक्तवानाप्तिवर्धनपिन ॥

छन्द, अलङ्कार, व्याकरण और काव्य आदि अनेक विषयों में अमरचन्द्र ने ग्रन्थ रचना की है। उनकी रचना शैली सरल, मधुर, रम्य और नैसर्गिक है। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार पर उनका अधिकार मनोहर है। संस्कृत भाषा पर उनका प्रभुत्व असाधारण है। उनकी रचनाओं में व्याकरण-त्रुटि बिल्कुल नहीं है। जैन होते हुए भी ब्राह्मण धर्म पर उनका नैसर्गिक भाव था, यह बात बालभारत जैसी उनकी रचना पर से तथा बालभारत के प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में की गई व्यास मुनि की स्तुति पर से स्पष्ट मालूम हो जाती है।

## विजयसेनसूरि

जीयाद् विजयसेनस्य प्रभोः प्रातिभदर्पणः ।
प्रतिबिम्बनमात्मानं यत्र पश्यति भारती ॥

—उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय

मुनेर्विजयसेनस्य सुधामधुरया गिरा ।
भारतीमञ्जुमञ्जीरस्वरोऽपि परवीकृतः ॥

—कीर्तिकौमुदी

बालचन्द्र कवि रचित विवेकमजरी टीका का सशोधन विजयसेनसूरि ने किया था। विजयसेनसूरि के मुह से कुछ सस्कृत शीघ्र काव्य, प्रवन्धो में कहलाये गये है किन्तु उक्त रासकृति के अलावा उनका कोई सम्पूर्ण काव्य हमारे देखने में नही आया। समकालीन साहित्य मे उनकी काव्यवाणी की जो प्रशस्ति की गई है उसे देखते हुए यह पूर्ण सम्भवित है कि उन्होने अन्य सस्कृत रचनाए भी अवश्य की होगी।

## उदयप्रभसूरि

अजिह्मपरमब्रह्मरवेरुदयदीपक ।
प्रभोरुदयप्रभोः शब्दब्रह्मोल्लासः प्रकाशताम ॥

—शब्दब्रह्मोल्लास ( ? )×

उदयप्रभसूरि, वस्तुपाल के गुरु विजयसेनसूरि के शिष्य थे। इनकी रचनाओ में मुख्यरूप से धर्माभ्युदय अथवा सघपतिचरित्र नाम का पन्द्रहसर्ग का महाकाव्य है। वस्तुपाल ने सघपति होकर भारीसमारभ पूर्वक शत्रुजय और गिरनार की जो यात्राए की थी उनका महात्म्य वर्णन करने के लिए रचीगई इस कृति में काव्य के भी ऊचे गुण विद्यमान है। इसके प्रथम और अन्तिम सर्ग में, वस्तुपाल और विजयसेनसूरि सम्बन्धी तथा अन्य ऐतिहासिक वृत्तान्त है। बाकी के सर्ग ऋषभदेव, जम्बूस्वामी, नेमिनाथ आदि के चरित्रो से भरे हुए है। स्वय वस्तुपाल के हाथ से स० १२९० में की गई इस काव्य की नकल खभात के भडार में मौजूद है।

उदयप्रभसूरि की अन्यरचनाओ में सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी नामक प्रशस्ति काव्य है। इसमें अणहिलवाड के राजाओका कवित्वमय वृत्तान्त देने के बाद, वस्तुपाल-तेजपालके धार्मिक कार्योका गुणानुवाद किया गया है। वस्तुपाल ने स० १२७७ में शत्रुजयकी यात्रा की थी उससमय इस काव्य की रचना हुई होगी, ऐसा मालूम पडता है। वहाँ पर वस्तुपालनिर्मित इन्द्रमडप में यह काव्य खुदवाया गया था। पाटण में स्वय वस्तुपाल के ही प्रासाद के अवशेषरूप गिने जाने वाले एक आरास के स्तम्भ पर इस काव्य का एक श्लोक खुदा हुआ मिला है।

---

× पाटणभण्डारमें उपलब्ध प्रति खण्डित है अतएव इस ग्रन्थके ठीक नामके विषयमें सन्देह है।

इसके अतिरिक्त उदयप्रभसूरि ने धर्मदासगणिकृत उपदेशमाला पर उपदेशमालाकर्णिका नामक टीका सं० १२९९ में धोलका में रची है तथा षडशीति और कर्मस्तव पर टिप्पणियां लिखी हैं। संस्कृत नेमिनाथ चरित तथा आरम्भसिद्धि नामक ज्योतिषग्रन्थ भी उन्होंने लिखे हैं। सं० १२८८ के गिरनारस्थित वस्तुपाल के लेखों में एक लेख उदयप्रभसूरिरचित है। इनकी कुछ प्रकीर्ण सूक्तियाँ प्रबन्धों में मिलती हैं।

इन्हीं उदयप्रभसूरि के शिष्य जिनभद्र ने सं० १२९० में वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह के वाचन के लिए एक प्रबन्धावली की रचना की थी। हस्तलिखितग्रन्थ में मिली हुई इस प्रबन्धावली का प्रकाशन आचार्य जिनविजयसम्पादित पुरातनप्रबन्धसंग्रह में किया गया है।

## नरचन्द्रसूरि

नरचन्द्रमुनीन्द्रस्य विश्वविद्यामयं महः ।
चतुरन्तपरिप्रोल्लसद्भिरभ्यर्चितं स्तुमः ॥
—धर्माभ्युदय

कवीन्द्रश्च मुनीन्द्रश्च नरचन्द्रो जयत्ययम् ।
प्रशस्तिरस्य काव्येषु सप्रान्ता हृदयादिव ॥
—कीर्तिकौमुदी

उन्होने बनाये है। इससे मालूम होता है कि वे ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे। प्राकृतप्रबोध नामक प्राकृत व्याकरण तथा चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र नामक स्तोत्र उन्होने बनाया है। उपरोक्त उदयप्रभसूरि के धर्माभ्युदय काव्य का तथा अपने गुरु देवप्रभसूरि के पाडवचरित महाकाव्य का सशोधन उन्होने किया था। २६ श्लोक की एक वस्तुपाल प्रशस्ति भी उनकी बनाई हुई मिलती है। गिरनार-स्थित वस्तुपाल के प्रशस्ति लेखो में दो लेख नरचन्द्रसूरि के लिखे हुए है। उनके कुछ सुभाषित और स्तुति काव्य, प्रबन्धो में भी मिलते है।

## नरेन्द्रप्रभसूरि

तस्य गुरो प्रियशिष्य प्रभुर्नरेन्द्रप्रभ प्रभावाढ्य.।
योऽलकारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिं च ॥
—राजशेखरसूरिकृत न्यायकदलीपजिका

एक बार वस्तुपाल ने भक्तिपूर्वक हाथ जोडकर नरचन्द्रसूरि को विनती की "कुछ अलकार ग्रन्थ अतिविस्तार के कारण दुर्गम है, कुछ अति सक्षेप के कारण लक्षण रहित है और कुछ अभिधेय वस्तु से रहित और क्लेश से समझ में आने वाले है। काव्यरहस्य के निर्णय से बहिर्भूत ग्रन्थो को सुनते सुनते मेरा मन कदर्थित हो गया है। अतः अतिविस्तार से रहित, कविकला की सम्पूर्णता से युक्त तथा दुर्मेधप्रबोधक काव्यशास्त्र की रचना करो।" यह सुनकर सूरि ने अपने शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि को उपरोक्तभाँति की ग्रन्थ रचना के लिए कहा। नरेन्द्रप्रभसूरि ने वस्तुपाळ के आनन्द के लिए अलकारमहोदधि नामक ग्रन्थ की रचना की।

आठप्रकरण में लिखे गये इस अलकारग्रन्थ में नरेन्द्रप्रभ ने स्वरचित अलकारसूत्र तथा वृत्ति दी है। प्रारभ में उन्होने कहा है कि "पूर्वाचार्यों ने जिसका आविष्कार न किया हो ऐसा कुछ नही है। यह कृति उनके बचनो का सार-सग्रह है।" ग्रन्थ के अन्त में वे लिखते है कि "यह कृति मैंने बुद्धिशाली पुरुषो की चमत्कृति के लिए तथा मेरी व्युत्पत्ति के लिए लिखी है।"

इस प्रकार से नम्रता दर्शाते हुए नरेन्द्रप्रभ सूरि ने सस्कृत साहित्य के बहु-सख्यक ग्रन्थो का आधार लिया है। ग्रन्थावतरणो से मालूम होता है कि उनका समस्त साहित्यशास्त्र का ज्ञान अति गहरा था।

उन्होने बनाये है । इससे मालूम होता है कि वे ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे । प्राकृतप्रबोध नामक प्राकृत व्याकरण तथा चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र नामक स्तोत्र उन्होने बनाया है । उपरोक्त उदयप्रभसूरि के धर्माभ्युदय काव्य का तथा अपने गुरु देवप्रभसूरि के पाडवचरित महाकाव्य का सशोधन उन्होने किया था । २६ श्लोक की एक वस्तुपाल प्रशस्ति भी उनकी बनाई हुई मिलती है । गिरनार-स्थित वस्तुपाल के प्रशस्ति लेखो में दो लेख नरचन्द्रसूरि के लिखे हुए है । उनके कुछ सुभाषित और स्तुति काव्य, प्रबन्धो में भी मिलते है ।

## नरेन्द्रप्रभसूरि

तस्य गुरो प्रियशिष्य प्रभुर्नरेन्द्रप्रभ प्रभावाढ्य ।
योऽलकारमहोदधिमकरोत् काकुत्स्थकेलिं च ।।
—राजशेखरसूरिकृत न्यायकदलीपजिका

एक बार वस्तुपाल ने भक्तिपूर्वक हाथ जोडकर नरचन्द्रसूरि को विनती की "कुछ अलकार ग्रन्थ अतिविस्तार के कारण दुर्गम है, कुछ अति सक्षेप के कारण लक्षण रहित है और कुछ अभिधेय वस्तु से रहित और क्लेश से समझ में आने वाले है । काव्यरहस्य के निर्णय से बहिर्भूत ग्रन्थो को सुनते सुनते मेरा मन कदर्थित हो गया है । अत. अतिविस्तार से रहित, कविकला की सम्पूर्णता से युक्त तथा दुर्मेधप्रबोधक काव्यशास्त्र की रचना करो । " यह सुनकर सूरि ने अपने शिष्य नरेन्द्रप्रभसूरि को उपरोक्तभाँति की ग्रन्थ रचना के लिए कहा । नरेन्द्रप्रभसूरि ने वस्तुपाल के आनन्द के लिए अलकारमहोदधि नामक ग्रन्थ की रचना की ।

आठप्रकरण में लिखे गये इस अलकारग्रन्थ में नरेन्द्रप्रभ ने स्वरचित अलकारसूत्र तथा वृत्ति दी है । प्रारभ मे उन्होने कहा है कि "पूर्वाचार्यों ने जिसका आविष्कार न किया हो ऐसा कुछ नही है । यह कृति उनके वचनो का सार-सग्रह है । " ग्रन्थ के अन्त मे वे लिखते है कि "यह कृति मैंने बुद्धिशाली पुरुषो की चमत्कृति के लिए तथा मेरी व्युत्पत्ति के लिए लिखी है । "

इस प्रकार से नम्रता दर्शाते हुए नरेन्द्रप्रभ सूरि ने सस्कृत साहित्य के बहु-सख्यक ग्रन्थो का आधार लिया है । ग्रन्थावतरणो से मालूम होता है कि उनका समस्त साहित्यशास्त्र का ज्ञान अति गहरा था ।

काकुत्स्थकेलि नामक एक कृति, नरेन्द्रप्रभसूरि की बनाई हुई थी, ऐसा न्यायकन्दलीपंजिका के उपर्युक्त उल्लेख पर से मालूम होता है। यह कृति आज उपलब्ध नही है किन्तु एक पुराने ग्रन्थ भण्डार की हस्त लिखित सूचि ( पुरातत्त्व पु० २ पृ० ४२६ ) से मालूम होता है कि काकुत्स्थ केलि १५०० श्लोको का नाटक था। इसका विषय क्या था, यह सूचि से मालूम नहीं होता। किन्तु रघुवंश से मिलता हुआ कोई विषय कवि ने लिया होगा, ऐसा अनुमान नाटक के नाम से किया जाय तो कोई अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त विवेकपादप और विवेककलिका नामक सूक्तिसंग्रह भी नरेन्द्रप्रभसूरि ने रचे है।

नरेन्द्रप्रभ सूरि ने वस्तुपाल प्रशस्ति नामक दो काव्य रचे है, जिनमें से एक १०४ श्लोक का और दूसरा ३७ श्लोक का है। ये दोनो काव्य, ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व के हैं। गिरनार पर एक लेख नरेन्द्रप्रभ सूरि का भी है।

## बालचन्द्र

वाग्वल्लीदलदस्यव क्रति न वा सन्त्याखुतुल्योपमा
सत्योल्लेखमुष स्वकोष्ठपिठरीसम्पूर्तिधावद्धिय. ।
सोऽन्य कोऽपि विदर्भरीतिबलवान् बालेन्दुसूरि पुरो
यस्य स्वर्गिपुरोहितोऽपि न गवा पौरोगवस्तादृश ॥
—अपराजित कवि

बहुप्रबन्धकर्तु श्रीबालचन्द्रस्य का स्तुति ।
मन्त्रीशवस्तुपालेन य स्तुत कवितागुणात् ॥
—प्रद्युम्नसूरिकृत समरादित्यसंक्षेप

बालचन्द्रसूरि, चन्द्रगच्छ के हरिभद्रसूरि के शिष्य थे। वे मोढेरा के मोढ ब्राह्मण थे। उनका पूर्वाश्रम का नाम मुंजाल था। उनके पिता का नाम धरादेव और माता का नाम विद्युत्—विजली था। धरादेव, जैन शास्त्रो के ज्ञाता थे। मुंजाल ने भी हरिभद्र सूरि की वाणी सुन कर माता पिता की अनुमति से दीक्षा ली थी। चौलुक्य राजगुरु पद्मादित्य उनके अध्यापक थे। वादी देवसूरि के गच्छ के आचार्य उदयसूरि ने उनको सारस्वतमन्त्र दिया था। एक वार योगनिद्रा में लगे हुए और सरस्वती के ध्यान में निमग्न बालचन्द्र के पास आकर शारदा ने कहा "वत्स ! बाल्यकाल से तेरे किये हुए सारस्वत ध्यान से मैं प्रसन्न हुई हूँ। जैसे कालिदास आदि मेरी भक्ति से कवीन्द्र हुए वैसे तू भी एक महा कवि होगा।"

वसन्तविलास महाकाव्य के प्रारम्भ में उस प्रकार से अपना पूर्व वृत्तान्त देकर बालचन्द्र कवि कहते है कि " देवी सरस्वती की इस कृपा से यह काव्य मैं बनाता हू ।" चौदह सर्ग के उस काव्य में वस्तुपाल के पराक्रम और सुकृत्यो का वर्णन है । सोमेश्वर, हरिहर और अन्य समकालीन कवि, वस्तुपाल को वसन्तपाल भी कहते थे । इसी से उस काव्य का नाम वसन्तविलास रखा गया था । इस काव्य के प्रारम्भ में कवि की आत्मकथा है तदुपरान्त अणहिलवाड का वर्णन है और उसके बाद मूलराज से लगाकर वीरधवल तक के राजाओ का ऐतिहासिक वृत्तान्त है । तत्पश्चात् वस्तुपाल-तेजपाल की मन्त्रीरूप से स्थापना का, भडोच के शंख के साथ वस्तुपाल के युद्ध का और शंख की पराजय का वर्णन किया है । ऋतु आदि का रूढ वर्णन करके कवि ने वस्तुपाल की यात्राओ का वर्णन किया है अन्त में वस्तुपाल के अनेक सुकृत्यो का गुण सकीर्तन करके कवि ने उसके पाणिग्रहण-अवसान का वर्णन किया है ।

वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह के विनोद के लिए यह काव्य रचा गया था । इसमें वस्तुपाल के मरण का उल्लेख भी मिलता है इसलिए स० १२९६ के बाद में इसकी रचना सभव है ।

उपरोक्तकवि अपराजितलिखित प्रशसोक्ति से मालूम होता है कि बालचन्द्र कवि वैदर्भी रीति के प्रकाण्ड पडित थे । भाषा और अलकारो पर उनका एकाधिपत्य था । माधुर्य और प्रसाद गुण इस कवि में पूर्णरूप से विद्यमान थे । मध्यकालीन कवियो का भाषाडम्बर उनसे परे था । नरनारायणानन्द और कीर्तिकौमुदी की तुलना मे यह काव्य अवश्य आसकता है ।

बालचन्द्र ने करुणावज्रायुध नामक एकाकी नाटक भी लिखा है । यह नाटक वस्तुपाल के निकाले गये बृहद्-सघ के परितोष के लिए, शत्रुंजय पर ऋषभदेव के यात्रामहोत्सव के समय खेला गया था । वज्रायुधचक्रवर्ती की परीक्षा लेने के लिए देवतालोग बाज और कबूतर का रूप बनाकर आये थे । उस समय वज्रायुध ने अपने प्राणो की बलि पर भी कबूतर की रक्षा की, यही इस नाटक में चित्रित है । इसके अतिरिक्त बालचन्द्र ने आसड कवि के विवेकमजरी और उपदेशकदली नामक ग्रन्थो पर टीकाए लिखी है ।

वस्तुपाल को लक्षित करके कहा गया बालचन्द्रकृत एक स्तुतिकाव्य, प्रबन्धो मे इस प्रकार से मिलता है—

गौरी रागवती त्वयि त्वयि वृषो बद्धावरस्त्व युतो
भूत्या त्व च लसद्गुण शुभगुण किंवा बहु ब्रूमहे ।
श्रीमन्त्रीश्वर नूनमीश्वरकलायुक्तस्य ते युज्यते
बालेन्दु चिरमुच्चकै रचयितु त्वत्तोऽपर. क प्रभु ॥

अर्थात्–हे मत्री ! ते' में और शिव में समानता है। शिव से जैसे गौरी अनुराग करती है वैसे तेरे से भी गौरी ( गौरागास्त्री ) अनुराग करती है। जैसे शिवका वृष – (नदी) के प्रति आदर भाव है वैसे ही तेरे में भी वृष–(धर्म) के प्रति आदर भाव है। जैसे शिव भूति (भस्म) से युक्त है वेम ही तू भी भूति (समृद्धि) से युक्त है शिव की भाति तेरी सेवा में भी शुभगण (सेवक) विद्यमान है। जैसे शिव के सिर पर बालचन्द्र (द्वितीया का चन्द्र) है वैसे ही तेरे लिए भी बालचन्द्र (कवि) उच्च पद देने के योग्य है।

यह सुनकर बालचन्द्र के आचार्यपदमहोत्सव में वस्तुपाल ने एक हजार द्रव्यं का व्यय किया।

## जयसिंहसूरि

वासाम्भोजसमुद्भवैर्मधुलवैर्वेधा व्यधाद् यद्गिर ।
वाणी पाणिविलासपद्मजनितैस्तां सिञ्चतीवान्वहम् ॥

—हम्मीरमदमर्दन प्रस्तावना

जयसिंहसूरि, वीरसूरि के शिष्य तथा भडोच के मुनिसुव्रतस्वामी चैत्य के अधिष्ठायक आचार्य थे। गुजरात पर चढ़कर आयेहुए यादवराजा सिहण और मीलच्छीकार ( सुलतान अल्तमश ) का वीर धवल और वस्तुपाल ने एक साथ पराजय किया था। इस वस्तु को ग्रहण करके जयसिह ने हम्मीरमदमर्दन नामक नाटक रचा था। यह नाटक स० १२७९ और स० १२८५ के बीच में रचा गया है, ऐसा मानने के लिये कई कारण है। यह नाटक वस्तुपाल के पुत्र जयतसिह की आज्ञा से खभात में भीमेश्वर देव के यात्रामहोत्सव में खेला गया था। नाटक में कर्ता ने ऐसा दावा किया है कि प्रेक्षक जिससे ऊब गये है, ऐसा भयानक रस से भरा हुआ यह नाटक नही है किन्तु नूतनरस से भरा हुआ यह भिन्न जातिका नाटक है।

यादवराजासिहण और लाटराज के भतीजे सग्रामसिह के सगठन को वस्तुपाल के गुप्तचरो ने किस भाँति से तोड डाला था, उसका विवरण नाटक के प्रथम दो अको में आता है। तीसरे अक में, म्लेच्छो के उपद्रव से मेवाड देश

की जो बुरीदशा होगई थी उसका चित्रण, कमलक नामक दूत अपने शब्दो में करता है। इस अक के अन्त में "वीरधवल आरहा है" ऐसी बात फैलाकर, देशवासियो को कमलक सतोष देता है। चौथे अक में मिलता है कि वस्तुपाल से फैलायीगई अफवाह के कारण बगदाद का खलीफा, खर्परखान को आज्ञा देता है कि "उस मिलच्छीकार को हथकडियो में बाँधकरमेरे सामने हाजिर करो।" दूसरी तरफ तुरुष्को के पराजय के पश्चात्‌उनके प्रदेशो को वापिस देने का वचन देकर, वस्तुपाल कुछ राजाओ को अपने पक्ष में लेलेता है। बाद में मिल्लच्छीकार, अपने वजीर गोरी ईसफ के साथ बात चीत करता हुआ वीरधवल की गर्जना तथा उसके सैन्य की आवाज सुनकर भाग जाता है। पचम अक में राजा विजय प्राप्त करकेघर आता है। अन्त मेरा जा शिव के मदिर में जाता है। वहाँ पर शिवसाक्षात् प्रगट होकर उसको वरदान देते है।

समस्त सस्कृतसाहित्य में शुद्ध ऐतिहासिक प्रसगो को लेकर लिखे गये नाटक अत्यन्त विरल है। हम्मीरमदमर्दन नाटक इस विषय का एक अच्छा नाटक है।

जयसिंहसूरि की दूसरी कृति ७७ श्लोको की वस्तुपाल-तेजपालप्रशस्ति है। तेजपाल एक बार भडोच के शकुनिविहार में बने हुए मुनिसुव्रतस्वामी के मदिर की यात्रा के लिए गये और वहाँ पर जयसिंहसूरि ने उनकी शीघ्रकाव्यो से स्तुति की। जयसिंह ने यह भी प्रार्थना की कि सिद्धराज के समय में जिन पच्चीस देवमन्दिरो का जीर्णोद्धार कराया गया था उन पर आप स्वर्ण-ध्वजदड गडवा दीजिये। तेजपाल ने यह काम वस्तुपाल की आज्ञा से पूर्ण करदिया। इसी स्मृति में जयसिंहसूरि ने इस प्रशस्ति की रचना की थी। स० १४२२ में कुमारपाल चरित की रचना करने वाले जयसिंहसूरि इनसे भिन्न है।

## माणिक्यचन्द्र

पारेलकारगहन सकेताध्वानमन्तरा।
सुधिया बुद्धिशकटी कथकारं प्रयास्यति॥

—काव्यप्रकाशसकेत

आचार्य माणिक्यचन्द्र, राजगच्छ के सागरचन्दसूरि के शिष्य थे। अलङ्कार साहित्य के निपुण विद्वान के रूप में भारतीय साहित्य में इनकी प्रसिद्धि है। मम्मट के काव्य प्रकाश पर की गई सकेत नामक टीका काव्य प्रकाश की सपूर्ण

टीकाओ में पहली है और इसका श्रेय माणिक्यचन्द्र को ही है। अलङ्कार के अभ्यासियो में और खास करके काव्यप्रकाश के वेत्ताओ में इस टीका ने प्रमाण भूत स्थान जमाया है। आवश्यक स्थलो का सक्षेप और अनावश्यकस्थलो का विस्तार प्रायः अन्य टीकाकारो में पाया जाता है किन्तु माणिक्यचन्द्र तो इस दोप से विल्कुल वचे हुए हैं। पूर्व कालीन अलङ्कार शास्त्रियो के मत, टीका में देकर उन्होने अपना मौलिक अभिप्राय भी लिखा है। मूल ग्रन्थ को विशद करने के लिये कई जगहो पर इन्होने अपने उदाहरण भी दिये है। इससे मालूम होता है कि ये एक सहृदय कवि भी थे। जैन साधु होते हुए भी उन्होने ब्राह्मण साहित्य का गहरा अभ्यास किया था। असामान्य वुद्धिवैभव, व्युत्पन्न पाडित्य और मार्मिकरसज्ञता से यह टीका अकित होते देख कर उन्होने नवम उल्लास के प्रारम्भ में—

लोकोत्तरोऽय सकेत कोऽपि कोविदसत्तमा।

नामक पक्ति लिख डाली थी जोकि गर्व से रहित और गुण से सहित है।

माणिक्यचन्द्र के अन्य ग्रन्थो में शान्तिनाथचरित्र और पार्श्वनाथचरित्र नामक दो महाकाव्य मिलते है।

उदयप्रभसूरि के शिष्य जिनभद्र के द्वारा स० १२९० में रची हुई प्रवन्धावली में माणिक्यचन्द्र और वस्तुपाल के सपक के विषय में निम्न विवरण मिलता है.—

एक वार माणिक्यचन्द्र वटकूप ग्राम में रहते थ तव उनको वस्तुपाल ने वुलाया किन्तु वे नही आये। इस वात से क्रुद्ध होकर मत्री ने एक कटाक्षगर्भित श्लोक माणिक्यचन्द्र पर लिख कर भेज दिया। माणिक्यचन्द्र ने भी ऐसे ही एक श्लोक से प्रत्युत्तर दिया। तव वस्तुपाल ने आचार्य को अपने पास वुलाने के लिये उनकी पोषधशाला की वस्तुए अपने व्यक्तियो से चुरवाकर अन्य स्थल पर रखवादी। यह जानकर आचार्य, मत्री के पास आये और दुःख के साथ कहने लगे "सघ के स्तभरूप आपके विद्यमान रहते हुए भी यह उपद्रव कैसे हो गया?" मत्री नें कहा "पूज्य श्री का आगमन न होता था इसी लिए" तदुपरान्त मन्त्री ने आचार्य को सव वस्तुए वापिस सौपी। सङ्घ पूजा के समय आचार्य ने वस्तुपाल की प्रशसा में एक काव्य कहा। तत्पश्चात् वस्तुपाल ने पुस्तकादि देकर आचार्यको विदाई दी। (वस्तुपाल चरितके अनुसार, वस्तुपाल ने अपने ग्रन्थभण्डार में से सव शास्त्रो की एक-एक प्रति माणिक्य चन्द्र को दी)

वस्तुपाल के जीवन काल में उसी के पुत्र के लिए रची गई प्रबन्धावली में यह वर्णन मिलता है। इसी प्रबन्धावली में अन्यत्र (पुरातक प्रबन्ध सग्रह, पृ ५०) माणिक्यचन्द्र से की गई मत्री यशोवीर की प्रशसा का एक श्लोक मिलता ह। इससे माणिक्यचन्द्र, वस्तुपाल और यशोवीर की समकालीनता सिद्ध होती है।

काव्यप्रकाशसकेत के अन्त में उसके रचना सवत् का उल्लेख निम्नप्रकार से मिलता है—

**रसवक्त्रग्रहाधीशवत्सरे मासि माधवे।**
**काव्ये काव्यप्रकाशस्य सकेतोऽय समर्थितः॥**

पाटण भडार सूचि- पृ० ५४

इसमें 'वक्त्र' का अर्थ १ किया जाय तो स० १२१६ निकलते है और ४ (ब्रह्मा के मुख) किया जाय तो १२४६ निकलते है तथा ६ (कार्तिकेय के मुख) किया जाय तो १२६६ निकलते है। किन्तु स० १२१६ में तो वस्तुपाल का जन्म भी शायद ही हुआ होगा अथवा वह बाल्यावस्था में होगा। वस्तुपाल को मत्री पद स० १२७६ में मिला था, ऐसा प्रसिद्ध है। अत माणिक्यचन्द्र ने स० १२१६ में सकेत जैसे प्रौढ ग्रथ की रचना की हो और स० १२७६ तक वह विद्यमान रहे, ऐसा सभव नही है। माणिक्यचन्द्र का पार्श्वनाथ चरित्र स० १२७६ में रचा गया था (देखो जैन ग्रन्थवालि पृ० २३० तथा प्रो० वेलणकरकृत जिनरत्नकोष पृ० २४४-४५) इससे ऐसा मानना ठीक है कि सकेत की रचना स० १२१६ में नही किन्तु स० १२४६ अथवा स० १२६६ में हुई होगी। माणिक्यचन्द्र का वस्तुपाल के साथ उपर्युक्त प्रसग बना था उससे पहले सकेत की रचना हो गई थी। माणिक्यचन्द्र सकेत के लेखन कार्य में रुके हुए होने से न आ सके, ऐसा पन्द्रहवी शताब्दी का वस्तुपाल चरित्र में लिखा है किन्तु स० १२९० में लिखी गई समकालीन प्रबन्धावली "मत्री ने बुलाया किन्तु आचार्य नहीं आये" ऐसा स्पष्ट लिखती है। इससे मालूम होता है कि वे किसी अन्य ग्रंथ में रुके हुए होगें।

सकेत की रचना सं० १२१६ में हुई थी, ऐसा आज कल बहुत सारे विद्वान् मानते है किन्तु समकालीन प्रबन्धावली का उपरोक्त शका रहित प्रमाण तथा पर्श्वनाथ चरित्र का रचनाकाल ध्यान में रखते हुए सकेत का रचनाकाल स० १२४६ अथवा स० १२६६ मानना चाहिए। वस्तुपाल और माणिक्यचन्द्र की समकालीनता और सपर्क को सकेत तथा पार्श्वनाथ चरित्र के रचना-काल के साथ ऐसा मानने पर ही घटा सकते है।

## अन्य कवि

सूत्रे वृत्ति कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता ।

विसूत्रे तु कृता तेषां वस्तुपालेन मन्त्रिणा ॥—सोमेश्वर

अन्य अनेक कवियो और पडितो को भी वस्तुपाल ने आश्रय दिया था तथा उनकी सरस्वती-सेवा को पोषण दिया था। वामनस्थलीवासी कवि यशोधर और सोमादित्य, प्रभासवासी कवि वैरिसिंह, कृष्णनगर वासी कमलादित्य, तथा दामोदर, जयदेव, विकल, कृष्णसिंह, शकरस्वामी आदि कवियो को भी उन्होने हजारो का दान दिया था। इन कवियो के प्रशसावाक्य तथा सुभाषित प्रबन्धों में मिलते है। चाचरियाक नामक एक विद्वान् जो कि किसी अन्य देश से आया था और जिसके वचन-श्रवण के लिए उदयप्रभसूरि भी आते थे, उसको वस्तुपाल ने दो हजार द्रम्भ दान में दिये थे और नगर में उसका जाहिर-सत्कार किया था। आबू पर बधाये हुए मन्दिरो का वृत्तान्त प्रगट करता हुआ अपभ्रश आबूरास स० १२८९ में पाह्लण नामक कवि ने (पाठान्तरानसार पाह्लण के पुत्र ने ) रचा था। यह कवि भी वस्तुपाल का सुपरिचित कवि मालूम होता है। सोमनाथ की यात्रा के समय, देव की पूजा करने वाले ब्राह्मणो ने वस्तुपाल की काव्यमय स्तुति की थी। इससे प्रसन्न होकर उनको हजारो का दान दिया था। इसके अतिरिक्त, जिनके नाम आज नही मिलते हैं ऐसे अनेक कवियो और पडितो को उसने घनवान् बना दिये थे। इन सबकी काव्यरचनाएँ तथा चारणो के अपभ्रश दोहे भी मिलते हैं। कइयो को उसने भूमिदान देकर निश्चित-वृत्ति भी बाध दी थी। इस दानवीरता को सराहते हुए सोमेश्वर लिखता है कि—

"प्राचीन काल के बुद्धिमान् दुर्गसिंह ने व्याकरण के सूत्रों पर वृत्ति (टीका की है किन्तु मन्त्री वस्तुपाल ने तो बिना ही सूत्रों के कवियो को वृत्ति (अजीविका) की है।"

अनुवादक—श्री मोहनलाल मेहता

पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी


IN THE PRESS

Lord MAHAVIRA His Life and Work
by Dr Bool Chand

Noble Teachings of Lord Mahavira
by Dalsukh Malvania and Shantilal Sheth

IN PREPARATION

S'ramanic Culture
by Dr Bool Chand

Spread of Jainism in India
by Dr R. S Tripathi

Morality and Religion in Jainism
By Nathmal Tatia M. A.

स्याद्वाद और सप्तभगी
ले०—श्री दलसुखभाई मालवणिया

# 'SANMATI' PUBLICATIONS

World Problems and Jain Ethics
by Dr Beni Prasad — Price 6 Ans.

1. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास की रूपरेखा — (अप्राप्य)
   ले०—प्रो० दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य चार आने
2. Jainism in Indian History — (अप्राप्य)
   by Dr. Bool Chand — Price 4 Ans
3. विश्व-समस्या और व्रत-विचार
   ले०—डॉ० बेनीप्रसाद — मूल्य चार आने
4 Constitution — Price 4 Ans
5 अहिंसा की साधना
   ले०—श्री काका कालेलकर — मूल्य चार आने
6 परिचयपत्र और वार्षिक कार्यविवरण — मूल्य चार आने
7. Jainism in Kalingadesa
   by Dr Bool Chand — Price 4 Ans
8 भगवान महावीर
   ले०—श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य चार आने
9 Mantra Shastra and Jainism — Price 4 Ans.
   by Dr A S Altekar
10 जैन-संस्कृति का हृदय — मूल्य चार आने
   ले०—पं० सुखलालजी संघवी
11 भ० महावीरका जीवन–[ एक ऐतिहासिक दृष्टिपात ] — " "
   ले०–पं० सुखलालजी संघवी
12 जैन तत्त्वज्ञान, जैनधर्म और नीतिवाद — " "
   ले०–पं० सुखलालजी तथा डॉ० राजवलि पाण्डेय
13 आगमयुग का अनेकान्तवाद
   ले० पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया — मूल्य आठ आने
14 निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय [ पूर्वार्द्ध ]
   ले० पं० श्री सुखलालजी संघवी — मूल्य दस आने
15 निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय [ उत्तरार्द्ध ]
   ले० पं० श्री सुखलालजी संघवी — मूल्य छ आने
16 वस्तुपाल का विद्यामण्डल
   ले० प्रो भोगीलाल सांडेसरा एम ए. — मूल्य आठ आने
17 जैन आगम [ श्रुत-परिचय ] प्रेस में
   ले० पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया

*Write to :—*

*The Secretary,*

JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY
BENARES HINDU UNIVERSITY.


बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।

पत्रिका न० ३१

# हेमचन्द्राचार्य का शिष्य-मण्डल

प्रो० भोगीलाल सांडेसरा M A, Ph D
अध्यक्ष—गुजराती विभाग
बरोडा यूनिवर्सिटी

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल
P. O. बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

दिसम्बर १९५१ पाँच आना

# हेमचन्द्राचार्य का शिष्य-मण्डल

प्रो० भोगीलाल सांडेसरा M.A., Ph.D.
अध्यक्ष—गुजराती विभाग
बरोडा यूनिवर्सिटी

# निवेदन

'कलिकाल सर्वज्ञ' के नाम से सुप्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र का परिचय देनेकी आवश्यकता नहीं। उनका जो साहित्य है वही उनकी यशोगाथा का गान कर रहा है। आचार्य हेमचन्द्र के आसपास जो विद्वन्मण्डल एकत्र हुआ था उसी का सक्षिप्त परिचय जो प्रो० साडेसेरा ने गुजराती में लिखा है वह हिन्दी में दिया जा रहा है। यह निवन्ध उन्होने पाटण में ता० ७-८-९ अप्रैल १९३९ में होनेवाले हैम सारस्वत सत्र के अवसर पर पढ़ा था।

आचार्य हेमचन्द्र ने जो विस्तृत साहित्य लिखा है उसमें भी इन शिष्यो का हाथ अवश्य रहा होगा। यही कारण है कि वे भी स्वतन्त्र रूप से लिखने में समर्थ हुए हैं। आचार्य के शिष्यो में रामचन्द्र पट्टधर हुए। उन्हीं की भारतीय नाटक साहित्य में जो देन है उससे विद्वान् सुपरिचित है। उन्होने अनेक नाटक ही नहीं लिखे किन्तु नाटचशास्त्र का भी निर्माण किया है जो कई दृष्टियो से महत्त्व का है। लेखक ने उनका तथा अन्य कई शिष्यों का इस छोटे से निबंध म परिचय कराया है। उनका यह निबन्ध प्रकाशित करने की अनुज्ञा उन्होने दी एतदर्थ मैं लेखक का आभार मानता हूँ।

निवेदक
**दलसुख मालवणिया**
मत्री
**जैन संस्कृति संशोधन मंडल**

# हेमचन्द्राचार्य का शिष्य-मण्डल

'कलिकाल सर्वज्ञ' श्री हेमचन्द्राचार्य का युग गुजरात के इतिहास में सुवर्ण-युग के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल में गूर्जरो की सर्वांगीण उन्नति और प्रगति दृष्टिगोचर होती है। सिद्धराज और कुमारपाल के शासन काल में गुजरात के साम्राज्य का अभूतपूर्व विस्तार हुआ, विद्या, कला, वाणिज्य, आदि सभी क्षेत्रो में गुजरात के निवासियो का विकास हुआ। इस समय हमें उस काल के स्थापत्य के बहुत थोडे अवशेष दिखाई देते है किन्तु उन अवशेषो और प्राचीन ग्रन्थो के आधार से हम उस समय के प्रासादो और देव मन्दिरो की कल्पना कर सकते है। गुजरात के वाणिज्य से सम्बद्ध विदेशी यात्रियो के अनेक वर्णन मिलते है। इस समय समस्त हिन्द के वाणिज्य-व्यसाय में गुजरातियो का जो स्थान है उसी से हम उस काल के वाणिज्य की कल्पना कर सकते है। उस समय की अहिसा में सात्त्विक वृत्ति का पूर्ण योग था। जैन सिद्धान्त अनेक जैन मत्री, अमात्य, सेनापति, कुमारपाल जैसे परमार्हत राजा तथा विरक्त सन्यासी हेमचन्द्र को प्रवृत्ति से विमुक्त न कर सके।

भूतकाल पर दृष्टि डालें तो हमें मालूम होगा कि सिद्धराज-कुमारपाल के राज्यकाल में असाधारण दीप्ति थी। साथ ही यह मालूम पडता है कि मानो यह दीप्ति हेमचन्द्राचार्य के शान्त और प्रतिभायुक्त नेत्रो से प्रगट हो रही हो। इस दीप्ति में विद्या, सस्कारसम्पन्नता और सर्वधर्मसमभाव का अद्भुत तेज है। यह कहना अनुचित न होगा कि हेमचन्द्राचार्य ने समस्त देश की प्रजा का जीवन और उसकी विचारभूमिका को परिवर्तित कर दिया था। कुमारपालप्रतिबोध और तत्फलस्वरूप वधनिषेध की घोषणा की छाप आज भी गुजरात पर है, इसे कौन इन्कार कर सकता है?

भारत के इतिहास में हेमचन्द्र का साहित्याचार्य के रूप मे अतुलनीय स्थान है। मालवा और गुजरात की राजकीय स्पर्धा में से सास्कारिक स्पर्धा का जन्म हुआ और इस स्पर्धा के परिणाम स्वरूप सिद्धराज की प्रार्थना पर हेमचन्द्र ने 'सिद्धहेम व्याकरण' का सर्जन किया। हेमचन्द्र की सर्वतोमुखी प्रतिभा केवल व्याकरण तक ही सीमिति नही रही। 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ सग्रह,' 'निघटुकोश,' 'देशी नाममाला,' जैसे शब्दकोष, 'सिद्धहैम,' 'लिगानुशासन' 'धातुपारायण,' जैसे व्याकरण ग्रन्थ, 'काव्यानुशासन', जैसे अलकारग्रन्थ, 'छन्दोनुशासन' जैसा छदशास्त्र, सस्कृत और प्राकृत द्वयाश्रय' जैसे काव्य,

'प्रमाण मीमासा' और 'योगशास्त्र' जैसे गहन शास्त्रीय ग्रन्थ और 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' जैसे कवित्व युक्त महाकाव्य इत्यादि अनेक गन्थो का सर्जन भी किया है। उनके ऐसे विद्वत्ता पूर्ण लिखे हुए ग्रन्थो ने डॉ० पिटर्स ने को आश्चर्य में डाल दिया और उन्होने इनको "ज्ञानमहोदधि" (Occan of knowledgc) के विशेपण से अलकृत किया।

सोमप्रभसूरि ने 'शतार्थ काव्य' की टीका मे लिखा है —

क्लृप्त व्याकरण नव विरचित छन्दो नव द्वयाश्रया-
ऽलङ्कारौ प्रथितौ नवौ प्रकटित श्रीयोगशास्त्र नवम्।
तर्क सजनितो नवो जिनवरादीना चरित्र नवम्
वद्ध येन न केन केन विधिना मोह. कृतो दूरत. ॥

(जिन्होने नया व्याकरण, नया छन्दशास्त्र, नया द्वयाश्रय, नया अलकार-शास्त्र, नया तर्कशास्त्र और नये जीवन चरित्रो की रचना की है उन्होने (हेमचन्द्र) किस किस प्रकार से मोह दूर नही किया है? अर्थात् किया है।)

ऐसे प्रभावशाली पुरुष के आसपास शिष्यो का मण्डल होना स्वाभाविक ही है। ऐसे मनुष्य शिष्य मण्डली के विस्तार के प्रति उदासीन ही रहते है। जैसे वहती हुई गगा मे जिसे प्यास हो वह चुल्लू से पानी पीता है अथवा घडा भरता है उसी प्रकार ज्ञानपिपासु ही उनके आसपास एकत्रित होते थे। हेमचद्र ने शिष्यो की सख्या वढाने का कभी भी प्रयत्न नही किया। उनके सभी शिष्य अच्छे विद्वान् और साहित्यकार थे, इससे उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है। उनके शिष्यो मे रामचन्द्रसूरि की ख्याति सम्पूर्ण देश के विद्वानो मे फैली हुई थी और उस समय के विद्वानो में हेमचन्द्र के वाद इन्ही का नाम लिया जाता था। इनके अलावा गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, वर्धमानगणि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, यशश्चन्द्र, वालचन्द्र आदि दूसरे शिष्य थे। इन सभी ने किसी न किसी रूप में साहित्य की वृद्धि की है और जव भारतीय साहित्य में गुजरात की देन का विवेचन करते हैं तव इन सभी की साहित्य प्रवृत्ति पर अवश्य ध्यान आकर्षित होता है। हेमचन्द्र की अगाध विद्वत्ता का उत्तराधिकार इन सव शिष्यो में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर इन सभी पर यथाशक्य प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

## १—महाकवि रामचन्द्र

महाकवि रामचन्द्र की जाति, उनके देश, माता पिता आदि के विषय में अभी तक कुछ भी पता नही चला है। उनके द्वारा रचित 'नलविलास नाटक'

के सपादक प० लालचन्द्र गाधी के मत से इनका जन्म स० ११४५[१] में, दीक्षा स० ११५० में, सूरिपद ११६६ में और स० १२२९ में हेमचन्द्राचार्य के पट्टधर हुए। इनकी मृत्यु स० १२३० में मानी जाती है।

रामचन्द्र हेमचन्द्राचार्य के पट्ट शिष्य होने का स्पष्ट अनुमान ऐतिहासिक साधनो से किया जा सकता है। प्रभावक चरित' के हेमाचार्य प्रबन्ध में एक ऐसे प्रसग का वर्णन है, जिसमें सिद्धराज हेमचन्द्र से प्रश्न करते है कि आपके बाद इस स्थान को शोभित करनेवाला कौन-सा योग्य शिष्य आपकी दृष्टि में है? इसके उत्तर में हेमचन्द्र सिद्धराज से रामचन्द्र का परिचय कराते है और सिद्धराज रामचन्द्र को हेमचन्द्र जैसे महान् आचार्य के शिष्य को शोभा देनेवाले 'एकदृष्टि' बनने की सलाह देता है।[२] जयसिंह सूरि रचित कुमारपाल चरित्र में लिखा है कि हेमचन्द्र के अवसान से कुमारपाल को जो शोक हुआ, उसका शमन रामचन्द्र ही करता है।

---

१ रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा रचित 'नाट्य दर्पण' (गा० ओ० सी०) के सपादक श्री गोन्देकर रामचन्द्र का जन्म स० ११५६ में मानते है।

२ राज्ञा श्रीसिद्धराजेनान्यदाऽनुयुयुजे प्रभु ।
भवता कोऽस्ति पट्टस्य योग्य शिष्यो गुणाधिक ॥
तमस्माक दर्शयत चित्तोत्कर्षाय मामिव ।
अपुत्रमनुकम्पार्हं पूर्वं त्वा मा स्म शोचयन् ॥
आह श्री हेमचन्द्रश्च न कोऽप्येव हि चिन्तक ।
आद्योऽप्यभूदिलापाल सत्पात्राम्भोधिचन्द्रमा ॥
सज्ञानमहिमस्थैर्य मुनीना किं न जायते ।
कल्पद्रुमगमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥
अस्त्यामुष्यायणो रामचन्द्राख्य कृतिशेखर ।
प्राप्तरेख प्राप्तरूप सघे विश्वकलानिधि ॥
अन्यदाऽदर्शयस्तेऽमु क्षितिपस्य स्तुतिं च स ।
अनुक्तामाद्यविद्वद्भिर्हृल्लेखावायिनी व्यधात् ॥
तथाहि—मात्रयाऽप्यधिक कचिन्न सहन्ते जिगीषव ।
इतीव त्व धरानाथ धारानाथमपाकृथा ।
शिरोधूननपूर्वं च भूपालोऽत्र दृश ददौ ।
रामे वामेतराचारौ विदुषा महिमस्पृशाम् ॥
एकदृष्टिर्भवान् भूयाद वत्स जैनेन्द्रशासने ।
महापुण्योऽयमाचार्यो यस्य त्व पदरक्षक ॥
—प्रभावक चरित—हेमाचार्यप्रबन्ध श्लोक १२९-३७

## रामचन्द्र की लेखन प्रवृत्ति—

रामचन्द्र ने रघुविलास, नलविलास, यदुविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, निर्भय-भीमव्यायोग, मल्लिकामकरन्द प्रकरण, राघवाभ्युदय, रोहिणीमृगाङ्क प्रकरण, वनमाला नाटिका, कौमुदीमित्राणन्द और यादवाभ्युदय प्रभृति एकादश नाटक और 'सुधाकलश' नामक सुभाषितकोश की रचना की है। इनके अतिरिक्त अपने गुरुभ्राता गुणचन्द्र के साथ नाट्यशास्त्र का 'नाट्यदर्पण' और न्यायशास्त्र का 'द्रव्यालङ्कार' ग्रन्थ लिखे है। इन दोनो ग्रन्थो पर खुद ने वृत्ति भी लिखी है। 'कुमारविहार शतक' और 'युगादिदेव द्वात्रिंशिका' नामक काव्य भी इन्हीने लिखे है।

## नाट्यशास्त्री रामचन्द्र—

। इनमें 'नाटचदर्पण' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योकि सस्कृत में नाटचशास्त्र पर इने गिने ग्रथ है। नाटचशास्त्र की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। रामचन्द्र ने इसमें विविध विषयो को स्पष्ट करने के लिए भिन्न-भिन्न चवालीस नाटको के उद्धरण उदाहरण के लिए उद्धृत किये है और उनका उल्लेख किया है। इनमें से कई नाटक इस समय अप्राप्य है। विशाखदत्तद्वारा रचित 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक अप्राप्य नाटक के अनेक अवतरण 'नाटचदर्पण' मे दृष्टिगोचर होते है, जिनसे मौर्यकाल के इतिहास पर काफी प्रकाश पडता है। रामचन्द्र ने 'नाटचदर्पण' में नाटचशास्त्र, रसशास्त्र और अभिनयकला पर कुछ महत्त्वपूर्ण विषयो की चर्चा की है। और उस काल की दृष्टि से देखे तो वह चर्चा प्रणालिका भजन के रूप में हमारे सामने आती है। पूर्वकाल के सभी अलकार शास्त्री—जिनमें हेमचन्द्र भी सम्मिलित है—'रस' को ब्रह्मानन्द के समान आनन्द देनेवाला मानते है, लेकिन रामचन्द्र ने 'सुखदु खात्मको रस' लिखकर रस को दो भागो—सुख और दु ख—में विभक्त कर दिया है। उनका कहना है कि लोग कवि और अभिनेता के चातुर्य को देखने के लिए ही दुखात्मक नाटक देखने जाते है। इससे यह फलित होता है कि नाटक केवल आनन्द प्राप्ति का ही साधन नही वल्कि उससे जीवन में स्थित करुणा का भी दर्शन होता है। रामचन्द्र ने पूर्वकालीन नाटचाचार्यों की एक और मान्यता का बहुत जोरो से विरोध किया है। प्राचीन नाटचाचार्यों का कहना है कि अभिनेता जिन सवेदनो और भावनाओ का अपने अभिनय द्वारा प्रदर्शन करता है, उनका वह स्वय अनुभव नही करता है। रामचन्द्र का कहना है कि जिन भावनाओ का अभिनेता प्रेक्षको के सामने प्रदर्शन करता है उनका अनुभव वह

स्वय भी करता है "जैसे वेश्या, दूसरो को प्रसन्न करते समय स्वय भी आनन्द का अनुभव करती हैं।" इससे प्रतीत होता है कि रामचन्द्र का नाट्यशास्त्र का अभ्यास कितना तलस्पर्शी और मौलिक था। इन्हें लौकिक विषयो पर अनेक नाटको के प्रणेता के रूप में नाट्य और अभिनय के विविध अगो का व्यावहारिक रूप से अवलोकन करने का खूब मौका मिला होगा, तो भी पूर्व-कालीन परम्पराओ से आबद्ध युग में व्यावहारिक सत्यो के आधार से प्राप्त विधानो को विद्वानो के सामने प्रदर्शित करने का साहस करना यह कोई सामान्य बात नही थी।

### प्रबन्धशतकर्तृ—

रामचन्द्र को 'प्रबन्धशतकर्तृ' के नाम से भी पुकारा जाता है। स्वय रामचन्द्र ने भी अपनी कृतियो में इस विशेषण का प्रयोग किया है।[3] प० लालचन्द्र गाधी की यह मान्यता है कि रामचन्द्र ने सौ प्रबन्ध अवश्य लिखे होगे जिनमें से कई आजकल अप्राप्य हैं। दूसरा मत यह भी है कि 'प्रबन्धशत' शब्द प्रबन्धो की सख्या को सूचित नही करता अपितु इस नामका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा होगा। श्री जिनविजय जी ने अलकार काव्य, नाटक आदि विषयो के ग्रन्थो की एक प्राचीन सूची प्रकाशित की है।[8] ऐसा अनुमान होता है कि यह सूची किसी के पुस्तक सग्रह की होनी चाहिए। इसमें एक स्थान पर 'प० रामचन्द्रकृत प्रबधशत द्वादशरूपकनाटकादिस्वरूपज्ञापक (श्लोक सख्या) ५०००' ऐसा उल्लेख है। श्री जिनविजय जी का यह मत है कि हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में जिन बारह वस्तुओ का रूपक के तौर से वर्णन किया है, उन रूपकों तथा नाटक आदि के स्वरूपो का इसमें विस्तृत और प्रमाणिक रूप से विवेचन किया गया होगा। इसके अनुसार ग्रन्थ ५००० श्लोको में समाप्त होता है। केवल रूपको की चर्चा में लिखा हुआ इतना विशाल ग्रन्थ सस्कृत साहित्य में बेजोड है। धनजय ने अपने 'दशरूपक' ग्रन्थ

---

३—श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रशिष्यस्य प्रबधशतकर्तुर्महाकवेरामचन्द्रस्य भूयास. प्रबधा – निर्भयभीमव्यायोग—प्रस्तावना।

श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण प्रबधशतविधाननिष्णातबुद्धिना नाट्यलक्षण-निर्माणपातावगाढसाहित्याभोधिना विशीर्णकाव्यनिर्माणतन्द्रेण श्रीमता रामचन्द्रेण विरचित द्वितीय रूपकम्—कौमुदीमित्राणद—प्रस्तावना

४—'पुरातत्त्व' (त्रैमासिक) पु० २, पृ० ४२१।

में दश रूपको का वर्णन किया है। वारह रूपको का रामचन्द्र द्वारा रचित ग्रन्थ अगर प्राप्त हो जाय तो उसमे इस विपय में नया और विशेप ज्ञान प्राप्त होगा। उपरोक्त प्रमाण से यह निश्चय रूप मे कहा जा सकता है कि 'प्रबन्धशत' शव्द ग्रन्थो की सख्यावाचक शव्द नही है। वल्कि इसी नाम का कोई विशिष्ट ग्रन्थ होना चाहिए। 'कौमुदीमित्राणन्द और निर्भयभीम-व्यायोग' ग्रन्थो की प्रस्तावना में रामचन्द्र स्वय ही 'प्रबन्धशत' लिखने का उल्लेख करते है, इससे प्रतीत होता है कि उपरोक्त दोनो ग्रन्थो के पहले उन्होंने सौ ग्रन्थ लिख लिये होगे इसकी अपेक्षा यह मानना अधिक युक्तिसगत होगा कि उन्होने सौ ग्रन्थ नही वल्कि 'प्रबन्धशत' नाम का कोई ग्रन्थ लिखा होगा।

रामचन्द्र वैदर्भी रीति के पोपक थे। 'नलविलास' की यह—'वैदर्भी यदि वद्धयौवनभरा प्रीत्या सरत्याऽपि किम्' श्लिष्ट उक्ति उसके प्रति उनके प्रेम की परिचायक है। यह रीति उनके सभी नाट्को मे दृष्टिगोचर होती है।

श्लेष प्रसाद. समता माधुर्य सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥

वैदर्भी रीति के इन गुणो का रामचन्द्र की कृतियो मे व्यवस्थित विकास दृष्टिगोचर होता है। 'नलविलास' मे नाटक के प्राण स्वरूप विविध रसो का उत्कृष्ट कोटि का वर्णन करने का रामचन्द्र ने गर्व पूर्वक दावा किया हे। यह दावा गलत भी नही है। श्री रामनारायण पाठक का कथन है कि 'शार्दूलविक्रीडित आदि लम्वे वृत्तो की रचना मे और अन्यत्र रामचन्द्र पर भवभूति का प्रभाव प्रतीत होता है। ऐसा होते हुए भी सरलता, प्रसाद और माधुर्य उनके मुख्य गुण थे इसे इन्कार नही किया जा सकता।[५]

रामचन्द्र ने धार्मिक की अपेक्षा लौकिक साहित्य का अधिक सर्जन किया है। उनके कई नाटको के कथानक लोककथाओ पर आधारित है। उस काल मे रामचन्द्र रचित नाटको का अभिनय होता होगा और विषय तथा भाषा की सरलता, रचना की प्रवाहिकता और प्रशसनीय रसनिष्पत्ति के कारण विशेष रूप से लोकप्रिय हुए होगे। 'नलविलास' नाटक मे लेखक ने मूल कथानक के कुछ चमत्कारिक प्रसगो का उल्लेख नही किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह नाटक रगमच पर अभिनय करने के लिए लिखा गया होगा।

---

५—'जैनसाहित्य सशोधक' खण्ड ३, अक २ में 'नल विलास' नाटक पर श्री रामनारायण पाठक का लेख।

रामचन्द्र समग्र साहित्य के ज्ञाता थे। वे शब्दशास्त्र, न्याय शास्त्र और काव्यशास्त्र के ज्ञाता—'त्रैविद्यवेदी'—होते हुए भी कवित्व की स्पृहा करते थे। नाटयदर्पण के प्रारम्भ में ही उन्होने लिखा है—

प्राणा कवित्व विद्याना लावण्यमिव योषिताम् ।
त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्य कृतस्पृहा ॥

'नाटचदर्पण' मे उन्होने चवालीस नाटको—जिनमें उनके ग्यारह नाटक भी सम्मिलित है—के उदाहरण दिये है। इससे उनके विशाल अध्ययन की कल्पना की जा सकती है। नाटयशास्त्र और प्रमाणशास्त्र के प्रगाढ विद्वान् होने का प्रमाण तो उनके ग्रन्थ ही है।

केवल हेमचद्र के शिष्यों में ही नही वल्कि समकालीन विद्वानो में भी रामचद्र की साहित्यप्रवृत्ति सबमे विशाल और विविध है। गुजरात में लिखे हुए वावीस सस्कृत नाटको में से आधे तो रामचद्र ने ही लिखे हैं। गुजरात और भारत के सस्कृत साहित्य में उनकी देन जितनी विविध है उतनी सगीन भी है।

रामचन्द्र के ग्रन्थो में से नाटयदर्पण, सत्य हरिश्चन्द्र, निर्भयभीमव्यायोग, कौमुदीमित्राणद और नलविलास प्रकाशित हो चुके है। सत्य हरिश्चन्द्र का १९१३ मे इटालियन भाषा में भी अनुवाद हो गया है।

## रामचन्द्र की समस्यापूर्ति

रामचन्द्र की समस्यापूर्ति की शक्ति भी प्रखर थी। वे प्राचीन कवियो को अत्यन्त प्रिय ऐसे शीघ्र कवित्व में भी निष्णात थे।

उनके आशुकवि होने के कारण सिद्धराज ने प्रसन्न होकर उन्हें 'कविकटार-मल्ल' की उपाधि दी थी। इस विषय में 'प्रवन्ध चिन्तामणि' के रचयिता ने लिखा है कि एक वार ग्रीष्म ऋतु मे जव सिद्धराज अपने साथियो के साथ क्रीडोद्यान मे जा रहे थे उस समय रामचन्द्र उनको सामने मिले। उस समय सिद्धराज ने कवि से प्रश्न किया कि 'कथ ग्रीष्मे दिवसा गुरुतरा' (ग्रीष्म ऋतु में दिवस वडे क्यो होते है ?) कवि ने उसी समय उत्तर दिया—

देव श्रीगिरिदुर्गमल्ल भवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे
धावद्वीरतुरङ्गनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षपामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सञ्जातपङ्कस्थली-
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनैव वृद्ध दिनम् ॥

अर्थात्—हे गिरिदुर्गविजयी देव ! आप के दिग्विजययात्रा के महोत्सव में दौडते हुए घोडो के कठोर खरो से पृथ्वी की रज पवन के जोर से आकाश गगा में मिल गई है, उससे वहाँ जो कीचड हुआ उसमें दूव उग गई है। सूर्य के अश्व उस दूव को चरते हुए धीरे धीरे चल रहे है, इसलिए दिवस लम्बा हो गया है।[६]

यही प्रसग रत्नमदिरगणिकृत 'उपदेश तरगिणी' में भी प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि कवि के इस चातुर्य से प्रसन्न होकर सिद्धराज ने उनको 'कविकटारमल्ल' की पदवी दी थी।

दूसरे एक स्थान पर 'प्रवन्धचिन्तामणि' के कर्ता एक और विशेष बात लिखते है। एक समय काशी निवासी विश्वेश्वर पडित कुमारपाल की सभा मे आये और उन्होने हेमचन्द्र को वहाँ उपस्थित देखकर एक पक्ति कही—

**पातु वो हेमगोपाल कम्वल दण्डमुद्वहन्।**

(दण्ड और कवल धारण करने वाले हेमगोपाल तुम्हारी रक्षा करे)

तुरत ही रामचन्द्र ने दूसरी पक्ति की रचना की—

**षड्दर्शनपशुग्राम चारयन् जैनगोचरे।**[७]

(जोकि षड्दर्शन रूपी पशुओ को जैनगोचर मे चराते है)

इनके अतिरिक्त भी कई अन्य ग्रथो में भी रामचन्द्र की समस्या पूर्तियाँ मिलती है। अगर वे सारी रामचन्द्र की न हो तो भी वे एक विद्वान और कवि के रूप में रामचन्द्र की प्रतिष्ठा की परम्परा की द्योतक है।

## रामचन्द्र का स्वातंत्र्य प्रेम—

उनकी कृतियो से यह अनुमान होता है कि उनका स्वभाव स्वातत्र्य प्रेमी ओर मानी थी। 'नाट्यदर्पण' में प्रतिपादित रस और अभिनय सबधी नूतन विधान रामचन्द्र की स्वतत्र विचार शक्ति और परपरागत विचारो को प्रमाण नही मानने की बुद्धिजन्य मनस्विता को प्रकट करते है। उनकी रचनाओ में जगह जगह जो अहभाव टपकता है वह उनके स्वतत्र और मानी स्वभाव का ही परिणाम हो सकता है। उन्होने स्वय ही अपने लिए 'विद्यात्रयीचण,'

---

६—प्रबन्धचिन्तामणि (फा० गु० सभा की आवृत्ति), पृ० १०२

७—वही, पृ० १४५

'अचुम्बित- काव्यतद्र[८]' और विशीर्णकाव्यनिर्माणतद्र[९] जैसे विशेषणो का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थानो पर आत्मप्रशसा सूचक उक्तियाँ भी लिखी है—

कवि काव्ये राम सरसवचसामेकवसति ।

—नलविलास श्लोक २

ऋते रामान्नान्य किमुत परकोटौ घटयितु
रसान् नाट्यप्रणान् पटुरिति वितर्को मनसि मे ।

—नलविलास श्लोक ३

साहित्योपनिषद्विद स तु रस रामस्य वाचा पर ।

—सत्य हरिश्चन्द्र श्लोक ३

प्रबन्धा इक्षुवत् प्रायो हीयमानरसा क्रमात् ।
कृतिस्तु रामचन्द्रस्य सर्वा स्वादु पुर पुर ॥

—कौमुदी मित्राणन्द—श्लोक ४

स्वातत्र्यप्रेम, कवि रामचन्द्र का विशिष्ट और अप्रतिम लक्षण है। उनकी उद्दाम भावनाएँ आज भी नवीन ही प्रतीत होती है। अपनी रचनाओं में भी उन्होने स्वतन्त्रता और मौलिकता लाने का भरसक प्रयत्न किया है। साहित्य की चोरी करने वालो और परकीय विचारो को लेनेवालो के प्रति समय समय पर व्यग बाणो का प्रहार किया है।[१०] श्रीपाल की सहस्रलिंग सरोवर प्रशस्तिवाले प्रसग (जिसके विषय मे आगे लिखा जायगा) से प्रतीत होता है कि कवि जीवन में स्वतत्र और स्पष्ट वक्ता था। स्वातत्र्यप्रेम से उद्भूत उनकी कुछ सूक्तियो का नमूना तो देखिये —

स्वातत्र्य यदि जीवितावधि मुधा स्वर्भूर्भुवो वैभवम् ।

—नलविलास—२–२

---

८—पञ्चप्रबन्धमिषपञ्चमुखानकेन विद्वन्मन सदसि नृत्यति यस्य कीर्ति ।
विद्यात्रयीचणमचुम्बितकाव्यतन्द्र कस्त न वेद सुकृती किल रामचन्द्रम् ॥

—रघुविलास—प्रस्तावना

९—देखो टिप्पणी न० ३

१०—देखो 'नाटयदर्पण' विवृति के अत में 'परोपनीतशब्दार्थ०' और 'अकवित्व परस्तावत्०' श्लोक। कौमुदीमित्राणन्द की प्रस्तावना में इन्ही में से पहले श्लोक की पुनरुक्ति और जिनस्तोत्र में 'विद्वानपि यया हास्य परकाव्यै कविर्भवन ।' इत्यादि।

न स्वतन्त्रो व्यथा वेत्ति परतन्त्रस्य देहिन. ।

—नलविलास—६–७

अजातगणना समा· परमत स्वतन्त्रो भव ।

—नलविलास—अतिमभाग

जिनस्तवषोडशिका के आरम्भ मे अर्हत् को 'स्वातन्त्र्यश्रीपवित्राय' कहकर के रामचन्द्र ने नमस्कार किया है और जिनस्तोत्र के अन्त में कहते हैं—

स्वतन्त्रो देव भूयास सारमेयोऽपि वर्त्मनि ।
मा स्म भूव परायत्त त्रिलोकस्यापि नायक ॥

'सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रस्तावना में रामचन्द्र गर्भितरूप से अपने आनन्द के साधनो का वर्णन करते हैं, उससे उनके मुक्त मानस की कल्पना की जा सकती है —

सूक्तयो रामचन्द्रस्य वसन्त कलगीतय ।
स्वातन्त्र्यमिष्टयोगश्च पञ्चैते हर्षवृष्टय ॥

## रामचन्द्र का नेत्रनाश

प्रबन्धो से प्रकट होता है कि उनकी दायीं आँख नही थी। प्रबन्धकार इसके लिए चमत्कारिक कारण उपस्थित करते है। प्रभावक चरित में लिखा है कि हेमचन्द्राचार्य ने जब रामचन्द्र का सिद्धराज के साथ परिचय करवाया तब सिद्धराज ने रामचन्द्रको जिन शासन में 'एक दृष्टि' होने का इशारा किया था, इसी से उसकी दायी आँख उसी समय ज्योतिहीन हो गई।[११] प्रबन्ध चिन्तामणि के कर्त्ता का कहना है कि जब श्रीपाल कवि द्वारा विरचित सहस्रलिंग सरोवर प्रशस्ति को पत्थर पर चित्रित की गई उस समय सभी विद्वानो को उस प्रशस्ति को देखने के लिए आमन्त्रित किया गया था। श्री हेमचन्द्र ने रामचन्द्र को इस सूचना के साथ कि 'अगर सभी विद्वान् प्रशस्ति काव्य की प्रशंसा करें तो हमें टीका करने की आवश्यकता नही है' उस सम्मेलन में भेजा। प्रशस्ति मे राजा की ममता और श्रीपाल कवि के प्रति सौजन्यता के कारण सभी विद्वान् कहने लगे कि सभी श्लोक बराबर है और उसमें 'कोशेनापि युत दलैरुपचित' श्लोक सुन्दर है। सिद्धराज ने जब रामचन्द्र से पूछा तो उन्होंने कहा "यह कुछ विचारणीय है।" और 'कोशेनापि' वाले काव्य मे व्याकरण के दोषो की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया।

११—प्रभावक चरित—हेमाचार्य प्रबन्ध, श्लोक १३०–१४०

इस समय सिद्धराज की नजर लगने से (सिद्धराजस्य सञ्जातदृष्टिदोषेण) लौटते समय उपाश्रय में प्रवेश करते वक्त रामचन्द्र की एक आँख फूट गई।[१२]

इन कथाओ से सामान्य ऐतिहासिक तथ्यो को चमत्कारिक स्वरूप में ढालने का प्रबन्धकारो का कलाकौशल्य प्रतीत होता है। रामचन्द्र की एक आंख जन्म से अथवा बाल्यकाल से ही दैववशात् गई होगी। 'व्यतिरेकद्वात्रिंशिका' के अन्त के उनके एक श्लोक से यह अनुमान किया जा सकता है —

जगति पूर्वविधेर्विनियोगज विधिनताव्य-गलत्तनुताऽऽदिकम्।
सकलमेव विलुम्पति य क्षणादभिनव शिवसृष्टिकर सताम्॥

दूसरे कितने ही स्तोत्रो में भी रामचन्द्र ने दृष्टिदान के लिए प्रार्थना की है।[१३]

## रामचन्द्र की मृत्यु

राजा कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात उनका भतीजा अजयपाल उत्तराधिकारी के रूप में सिंहासनारूढ हुआ। उन्होने जैनो का दमन आरम्भ किया और अपने पूर्ववर्ती राजाओ द्वारा निर्मित अनेक जैन प्रासादो का ध्वस कर दिया पुराने द्वेष के कारण रामचन्द्र की मृत्यु का भी वही कारण बना।

इस विषय में भिन्न भिन्न ग्रन्थो मे आंशिक फेर बदल के अतिरिक्त एक ही प्रकार की घटना का उल्लेख है। राजशेखरसूरि ने 'प्रबन्धकोश' में इस द्वेष का कारण और परिणाम वर्णन करते हुए लिखा है कि राजा कुमारपाल और हेमचन्द्र जब वृद्ध हो गये थे उस समय हेमचन्द्र की शिष्यमण्डली दो भागो में विभक्त हो गई। एक ओर रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि और दूसरी तरफ बालचन्द्र। बालचन्द्र की अजयपाल से मित्रता थी। एक बार रात्रि में मन्त्री आभड और हेमचन्द्र के बीच कुमारपाल के उत्तराधिकारी के विषय में सलाह मशविरा चल रहा था। हेमचन्द्र ने कहा—"गद्दी तो प्रतापमल्ल को ही मिलनी चाहिये। अजयपाल तुम्हारे द्वारा स्थापित धर्म का नाश

---

१२—प्रबन्ध चिन्तामणि (फा० गु० सभा की आवृत्ति) पृ० १०१—३

१३—नेमे निधेहि निशितासिलताभिराम—चन्द्रातदानमहत [illegible]
दृष्टिम्। —नेमिस्तव—[illegible]

शक्रस्तुताङ्घ्रिसरसीरुह दुःस्थनाथ देव प्रसीद [illegible]।
—[illegible]

करेगा।" आभड ने कहा "जैसा भी हो, अपना हो वही अच्छा है।" बालचन्द्र ने इसको सुन लिया और अजयपाल को कह दिया। इससे अजयपाल को रामचन्द्र आदि पर द्वेष हुआ। हेमचन्द्र की मृत्यु के बत्तीस दिन पश्चात् कुमारपाल की मृत्यु अजयपाल द्वारा दिये गये विष से हो गई। हेमचन्द्र के प्रति जो वैर था उसका बदला अजयपाल ने रामचन्द्र से लिया और उसे तप्त लोहे के आसन पर बैठा कर उसके प्राण ले लिये।[१४] यही घटना मेरुतुग के 'प्रबन्ध चिन्तामणि',[१५] जयसिंहसूरि विरचित 'कुमारपाल चरित' और जिनमण्डन गणि विरचित 'कुमारपाल प्रबन्ध में भी मिलती है।

'पुरातन प्रबन्धसग्रह' के एक प्रबन्ध में रामचन्द्र की मृत्यु के विषय में एक दूसरी घटना का वर्णन है कि, "हेमसूरि के रामचन्द्र और बालचन्द्र शिष्य थे। गुरु ने रामचन्द्र को सुशिष्य समझ कर विशेष विद्या और मान दिया। इससे क्रुद्ध होकर बालचन्द्र चला गया। अजयपाल की उससे मित्रता हुई। अजयपाल ने राज्य प्राप्ति के बाद रामचन्द्र से कहा—'हेमचन्द्रसूरि की सारी विद्या मेरे मित्र बालचन्द्र को दे।' रामचन्द्र ने उत्तर दिया—'गुरु की विद्या कुपात्र को नही दी जाती'। राजा ने कहा—'तो अग्नि [१६]। जीभ कडी करके उसके ऊपर (तप्त पत्र ?) बैठते हुए उन्होने दोधक पचशती (अर्थात् पाच सौ दोहे ?) की रचना की।"[१७]

---

१४—प्रबन्धकोश (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) पृ० ९८

१५—प्रबन्ध चिन्तामणि (फा० गु० सभा की आवृत्ति पृ० १४५) मे लिखा है कि रामचन्द्र को ताम्रासन पर बैठा कर मारने का यत्न किया गया था लेकिन उन्होने निम्न दोहा बोलकर जिह्वा को कडी करके मृत्यु को प्राप्त किया—

महि वीढह सचराचरह जिण सिरि दिन्हा पाय।
तसु अत्थमणु दिणेसरह होउत होहि चिराय॥

[इस सचराचर पृथ्वी पर जिसने पैर रक्खा है ऐसे दिनेश्वर सूर्य अस्त होता है। जो होने को होता है वह चिरकाल के बाद भी होता है।]

'पुरातन प्रबन्धसग्रह' के एक प्रबन्ध (पृ० ४७) के अनुसार हेमचन्द्र के अवसान के बाद श्री सघ के शोक का शमन करने के लिए रामचन्द्र ने यह दोहा कहा था।

१६—इस स्थान पर मूल प्रति में कुछ भाग लुप्त हो जाने से वाक्य टूटता है।

१७—पुरातन प्रबन्ध सग्रह (सिंघी जैन ग्रथमाला) पृ० ४९

उपरोक्त उदाहरणो से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है और यह ऐतिहासिक सत्य भी है कि हेमचन्द्र के शिष्य मण्डल से वालचन्द्र अलग हुए और रामचन्द्र की मृत्यु में भी वे ही कारण भूत हुए ।

अजयपाल के जैनमत्री यशपाल ('मोहराजपराजय' के कर्त्ता) तथा आभड आदि सेठो ने रामचन्द्र सूरि की इस प्रकार होने वाली मृत्यु को रोकने का भरसक प्रयास किया था लेकिन उनके सब प्रयत्न निष्फल हुए ।[१८]

## २. गुणचन्द्र

रामचन्द्र के गुरुभाई और उनकी साहित्य प्रवृत्तियो में अनेक प्रकार से सहायक गुणचन्द्र के विषय में नही के वरावर सामग्री उपलब्ध होती है । इस लिए प्राप्त साधनो द्वारा अनुमान ही किया जा मकता है । अभी तक गुणचन्द्र द्वारा लिखित एक भी स्वतन्त्र ग्रथ नही मिला है । नाटयशास्त्र का ग्रथ 'नाटयदर्पण' और प्रमाणशास्त्र के ग्रथ 'द्रव्यालकार, को लिखने में रामचन्द्र की गुणचन्द ने सहायता की थी । इन दोनो ग्रन्थो पर लिखी हुए वृत्तियाँ भी इन दोनो ने साथ वैठ कर लिखी है ।

यह सहज मे ही अनुमान हो सकता है कि रामचन्द्र और गुणचन्द्र के स्वभाव में एक प्रकार की भिन्नता थी । दोनो प्रखर विद्वान् तो थे ही लेकिन रामचन्द्र के ग्यारह नाटक, उनका हलका लोक भोग्य कथानक, वारवार उनमें आने वाले व्यग और हास्यजनक वाक्य, सामाजिक और सासारिक चित्र, मधुर विशद और अनन्ददायक सूक्तियाँ, उनका उद्दाम स्वातन्त्र्य प्रेम आदि प्रकट करते है कि रामचन्द्र की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी , उनकी मानसिक वनावट गभीरता परायण नही वल्कि उल्लासमय थी , सामान्य वस्तुओ में गहरा रस लेकर उनमें सौंदर्य पहिचानने की उच्च साहित्यकारो के सदृश शक्ति उनके मस्तिष्क में भरी हुई थी । दूसरी ओर गुणचन्द्र के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे विद्वान् थे, सर्जक और साहित्यकार नही । उन्होने रामचन्द्र को नाटक, सुभाषित कोश आदि साधारण साहित्य लिखने में योग नही दिया,

---

१८—रामचन्द्र के विषय में इस निवन्ध में उसके अप्रसिद्ध ग्रन्थो में से जो अवतरण आदि लिए गये है, वे प० लालचन्द्र गाधी द्वारा लिखित नलविलास नाटक की सस्कृत प्रस्तावना में से उद्धृत किये है, उसके लिये आभार प्रकट करता हूँ ।

लेकिन 'नाटचदर्पण' और 'द्रव्यालकारवृत्ति' जैसे गम्भीर और विद्वत्तापूर्ण ग्रथ तैयार करने में दोनो ने साथ साथ कार्य किया।

जैसलमेर भण्डार की 'द्रव्यालकारवृत्ति' की ताडपत्रीय प्रति स० १२०२ में लिखी हुई है इससे यह अनुमान होता है कि यह ग्रन्थ उसके पहले की रचना होना चाहिए।[१९]

'शतार्थी काव्य' के कर्त्ता सोमप्रभसूरि ने स० १२४१ में पाटन में, कुमारपाल को हेमचन्द्र द्वारा दिए गए उपदेश पर 'कुमारपालप्रतिवोध' नामक विशाल ग्रन्थ की प्राकृत भाषा में रचना की थी। हेमचन्द्र के तीन शिष्य गुणचन्द्र, महेन्द्रमुनि और वर्धमानगणि ने उस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढा था। ऐसा उल्लेख उसकी प्रशस्ति में मिलता है।[२०]

## २. महेन्द्रसूरि

हेमचन्द्र ने सस्कृत भाषा में चार कोश लिखे हैं—शब्दो का पर्यायवाची 'अभिधान चिन्तामणि', वनस्पतिशास्त्र और वैद्यक शब्दो का 'निघटुकोश', देशी शब्दो की 'देशी नाममाला' और एक ही शब्द के अनेक अर्थों को बतानेवाला 'अनेकार्थ सग्रह।' इनमें से प्रथम दो कोशो की क्रमश दस हजार और तीन हजार श्लोको की विस्तृत टीकाएँ उन्होने स्वय लिखी हैं। यह अनुमान किया जा सकता है कि 'अभिधान चिन्तामणि' की टीका हेमचन्द्र की अन्तिम कृति होगी, क्योकि 'योगशास्त्र' और 'त्रिषष्टिशलाका पुरुप चरित्र' विषयक उल्लेख उसमें प्राप्त होते हैं। 'अनेकार्थ सग्रह' की टीका लिखने की हेमचन्द्र की योजना होनी चाहिए। लेकिन इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। इसीलिए उनके शिष्य महेन्द्रसूरि ने अपने गुरु द्वारा जो कुछ भी इसके विपय में सुना था उसके आधार पर 'अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी' नामक टीका की रचना अपने गुरु के नाम से लिखी।[२१] हेमचन्द्राचार्य

---

१९—जैसलमेर भण्डार की सूची (गा० ओ० सी०) पृ० ११

२०—श्री हेमसूरिपदपङ्कजहसै श्रीमहेन्द्रमुनिपै श्रुतमेतत्।
वर्द्धमानगुणचन्द्रगणिभ्या साकमाकलितशास्त्ररहस्यै ॥
—कुमारपाल प्रतिबोध (गा० ओ० सी०) पृ० ४७८

२१—श्री हेमचन्द्रशिष्येण श्रीमन्महेन्द्रसूरिणा।
भक्तिनिष्ठेन टीकैव तन्नाम्नैव प्रतिष्ठिता ॥

का स्वर्गवास स० १२२९ में हुआ। यह टीका उनकी मृत्यु के थोडे समय बाद ही लिखी गई होगी, ऐसा अनुमान होता है।

महेन्द्रसूरि की इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी कृति देखने में नही आई।

## ४ वर्धमान गणि

कुमारपाल द्वारा निर्मित 'कुमारविहार' की प्रशस्ति रूप कुमारविहार प्रशस्ति काव्य पर व्याख्या लिख कर वर्धमानगणि ने इस काव्य के ११६ अर्थ निकाले है। इस व्याख्या के अत में इन्होंने लिखा है कि पहले इस काव्य के छ अर्थ किये गये थे लेकिन मैंने कुतूहल वश इसके ११६ अर्थ किये है।[२२] यह व्याख्या वर्धमान गणि के अद्भुत पाण्डित्य पर प्रकाश डालती है।

## ५ देवचन्द्र—

हेमचन्द्र के गुरु का नाम भी देवचन्द्र था। इससे 'जैन ग्रथावलि' में भूल से इन देवचन्द्र को हेमचन्द्र के गुरु के रूप में मान लिए है, यह ठीक नही है। हेमचन्द्र के शिष्य का नाम भी देवचन्द्र था। उन्होंने 'चन्द्रलेखा विजय प्रकरण' नामक नाटक लिखा है और उसकी हस्तलिखित प्रति जैसलमेर के भण्डार में मौजूद

---

सम्यग्ज्ञाननिधेर्गुणैरनवधे श्री हेमचन्द्रप्रभो—
ग्रंन्थे व्याकृतिकौशलव्यसनिना कास्मादृशा तादृशाम्।
व्याख्याम स्म तथापि त पुनरिद नाश्चर्यमन्तर्मनम्
तस्याजस्र स्थितस्य हि वय व्याख्यामनुब्रूमहे॥

सस्कृत हस्तलिखित प्रतियो की शोध की डॉ पिटर्सन् की रिपोर्ट न० १ सन् १८८२-८३, पृ० २३३ मे उद्धृत प्रस्तुत ग्रथ की प्रशस्ति।

२२—करीब छ वर्ष पहले पाटण में पू० मुनि श्री पुण्यविजय जी ने मुझे इस व्याख्या की अत्यन्त सूक्ष्म अक्षरो में लिखित एक सुन्दर प्रति बताई थी। श्री साराभाई नवाब ने "जैन अनेकार्थ ग्रन्थ सग्रह' में इस कृति को प्रकाशित किया है। पाटण में हेमसारस्वत सत्र के प्रसग पर आयोजित प्रदर्शिनी में उपर्युक्त सूक्ष्माक्षरी प्रति रखी गई थी। उसके कर्त्ता लिखते है—श्री हेमचन्द्र सूरिशिष्येण वधमानगणिना कुमारविहार–प्रशस्तौ काव्येऽस्मिन् पूर्वं षटर्थे कृतेऽपि कौतुकात् षोडशोत्तर व्याख्यान चक्रे।

है। [२३]इस नाटक के अत में लिखा है कि इसकी रचना में शेषभट्टारक ने सहयोग दिया है, परन्तु यह ज्ञात नही हुआ है कि यह शेपभट्टारक कौन है। 'चन्द्रलेखा विजय प्रकरण' की नायिका के रूप में चन्द्रलेखा विद्याधरी की कल्पना की गई है, परन्तु यह नाटक सपादलक्ष के राजा अर्णोराज की कुमारपाल द्वारा पराजय पर कुमारपाल के वीरत्व की प्रशसा मे लिखा गया है। यह भी सभव है कि यह नाटक कुमारपाल की आज्ञा से ही लिखा गया हो, क्योकि नाटक की प्रस्तावना मे सूत्रधार कहता है कि इसकी रचना कुमार विहार मे श्री अजितनाथ देव के वसन्तोत्सव के प्रसग पर कुमारपाल की सभा के परितोषार्थ अभिनय करने के लिए ही की गई है। [२४]अर्णोराज और कुमारपाल का युद्ध कई वर्प तक चला था परन्तु कुमारपाल की सम्पूर्ण विजय स० १२०७ अथवा उसके थोडे समय पहले होनी चाहिए क्योकि चित्तौड में कुमारपाल के स० १२०७ के शिलालेख में लिखा है कि शाकम्भरी के राजा को हराकर और शालीपुर नामक ग्राम में अपने लश्कर को छोडकर चित्तौड की शोभा देखने के लिए राजा वहा आया था। इससे यह स्पप्ट है कि 'चन्द्रलेखा विजय प्रकरण' स० १२०७ या उसके थोडे समय वाद में लिखा गया होगा।

इसके अलावा देवचन्द्र की 'मानमुद्राभजन' नामक एक दूसरी रचना थी, ऐसा उल्लेख अन्य स्थलो पर मिलता है, परन्तु इस कृति का अभी तक पता नही लगा है।[२५]

## ६ उदय चन्द्र

उदयचन्द्र द्वारा लिखित अभी तक एक भी ग्रन्थ ज्ञात नही हुआ है, परन्तु उनके उपदेशो से कई ग्रन्थ लिखने का उल्लेख मिलता है। वे एक अच्छे विद्वान् थे। 'प्रवन्धचिन्तामणि' मे कुमारपालप्रवन्धान्तर्गत उदयचन्द्र प्रवन्ध में

---

२३—चन्द्रलेखा विजय प्रकरण के अत में—

विद्याम्भोनिधिमन्थमन्दरगिरि श्रीहेमचन्द्रो गुरु
सान्निध्यैकरतिर्विशेपविधये श्रीशेपभट्टारक !
यस्य स्त कविपुङ्गवस्य जयिन श्रीदेवचन्द्रस्य सा
कीर्तिस्तस्य जगत्त्रये विजयतात् साद्व( ? )ललीलायिते ॥

—जैसलमेर भण्डार सूचि (गा० ओ० सी०) पृ० ४६

२४—'कुमारविहारे मूलनायकपार्श्वजिनवामपार्श्वावस्थितश्रीमदजितनाथदेवस्य वसन्तोत्सवे कुमारपालपरिषच्चेन परितोपायास्य प्रणयनम्।—

२५—जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास पृ० २८०

लिखा है कि एक वार कुमारपाल के समक्ष प० उदयचन्द्र अपने गुरु हेमाचार्य के 'योगशास्त्र' को पढ रहे थे। उस में पन्द्रह कर्मादान की व्याख्या में 'दन्तकेशनखास्थित्वक्रोम्णा ग्रहणमाकरे' यह श्लोक आया, उस में हेमाचार्य के मूलपाठ को सुधार कर 'रोम्णा' के स्थान पर वारवार 'रोम्णो' पढा। हेमचन्द्र के कारण पूछने पर उदयचन्द्र ने बताया कि प्राणियों के अग, वादित्र इत्यादि के लिए द्वद्व समास में एकवचन होता है। इससे हेमाचार्य, राजा और अन्य लोगो ने उनकी प्रशसा की।[२६]

उदयचन्द्र के उपदेश से देवेन्द्र ने 'सिद्धहेमबृहद्वृत्ति' पर 'कतिचिद्दुर्गपद-व्याख्या' नामक टीका[२७] और 'उपमितिप्रपचकथासारोद्धार'[२८] ग्रन्थ लिखे और चन्द्रगच्छीय देवेन्द्रसूरि के शिष्य कनकप्रभ ने हैमन्याससार' का उद्धार किया था।[२९] 'हैमबृहद्वृत्ति' पर व्याख्या लिखने वाले देवेन्द्र को डॉ बुल्हर ने उदयचन्द्र का शिष्य माना है।[३०]

---

२६—प्रवन्ध चिन्तामणि (फा० गु० सभा की आवृत्ति) पृ० १४७

२७—इस टीका की स० १२७१ में लिखित जैसलमेर के बृहद्ज्ञानकोश की प्रति में से डॉ बुल्हर ने हेमचन्द्र विषयक निवन्ध में उद्धृत मगलाचरण—

॥ अर्हं ॥ प्रणम्य केवलालोकावलोकितजगत्त्रयम्।
जिनेश श्री सिद्धहेमचन्द्रशव्दानुशासने ॥
शव्दविद्याविदा वन्द्योदयचन्द्रोपदेशत ।
न्यासत कतिचिद्दुर्गपदव्याख्याभिधीयते ॥

—Life of Hemachandracharya
(सिंघी जैन ग्रन्थमाला) Page 81

२८—देखो पाटन भण्डार की पुस्तको की वर्णनात्मक सूची (गा० ओ० सी०) भाग १ पृ० ५१

२९—भूपालमौलिमाणिक्यमालालालितशासन ।
दर्शनषट्कनिस्तन्द्रो हेमचन्द्रमुनीश्वर ॥
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति शिष्य सख्यावता वर ।
यावज्जीवमभूद् यस्य व्याख्या ज्ञानामृतप्रपा ॥
तस्योपदेशात् देवेन्द्रसूरिशिष्यलवो व्यधात् ।
न्याससारसमुद्धार मनीषी कनकप्रभ ॥
—हैमशव्दानुशासन वृ० न्या० प्रान्त (नरविलास, प्रस्तावना पृ० २४)

३०—Life of Hemachandra charya (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) पृ० ८१

७ यशश्चन्द्र—

यशश्चन्द्र लिखित अभी तक कोई ग्रन्थ प्राप्य नही है,[३१] परन्तु प्रबन्धो में उनके विषय में अनेक जगह उल्लेख मिलता है। उससे प्रतीत होता है कि वे हेमचन्द्रसूरि के साथ रहते थे। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में दो स्थान पर यशश्चन्द्रगणि के विषय में उल्लेख मिलते है। एक स्थान पर लिखा है कि एक बार देवपूजन के समय हेमचन्द्र कुमारपाल के महल में गये उस समय यशश्चन्द्र उनके साथ थे।[३२] दूसरे स्थान पर लिखा है आबड मेहता ने भडोच में अपने पिता के कल्याणार्थ शकुनिविहार बँधवाया था, उसके ऊपर ध्वजा चढाने के प्रसग पर नृत्य करते समय मिथ्यात्वियो की देवी के दोष में आ जाने के कारण अन्तिम स्थिति मे पहुच गये थे। उस समय उस कष्ट का निवारण करने के लिए हेमचन्द्र और यशश्चन्द्र पाटन से भडोच आये थे और दोष का निवारण कर वापिस लौट गये थे।[३३] इसके अतिरिक्त प्रभाचन्द्रसूरि के 'प्रभावक चरित'[३४] में और जिनमण्डन गणि के 'कुमारपाल प्रबन्ध'[३५] में भी यशश्चन्द्र का नामोल्लेख मिलता है।

८. बालचन्द्र

बालचन्द्र का गुरुद्रोह और उसके परिणाम स्वरूप रामचन्द्र के अकाल मृत्यु के विषय में पहले कहा गया है। इसके बारे में विशेष लिखते हुए 'प्रबधकोश' के रचयिता लिखते है कि रामचन्द्र की मृत्यु के बाद, 'यह अपने ही गोत्र की हत्या कराने वाला है' ऐसा कह कर ब्राह्मणो ने बालचन्द्र को राजा अजयपाल के मन से उतार दिया था। इससे लज्जित होकर बालचन्द्र मालवा की तरफ चले गये और वही उनकी मृत्यु हुई।[३६]

'स्नातस्या' नामक प्रसिद्ध स्तुति की रचना उनके द्वारा हुई बतलाते है।

---

३१—मुद्रित कुमुद प्रकरण के कर्त्ता श्रावक यशश्चन्द्र को श्री कन्हैयालाल मुशी (देखो Gujrat and its Literature P. 47) और श्री रामलाल मोदी (देखो 'बुद्धिप्रकाश जनवरी १९३० में उनका लेख—पाटन के ग्रन्थकार) ने हेमचन्द्र का शिष्य माना है, यह ठीक नही है।

३२—प्रबन्ध चिन्तामणि (फा० गु० सभा की आवृत्ति) पृ० १३३

३३—वही पृ० १४३—१४४

३४—प्रभावक चरित—हेमाचार्य प्रबन्ध, श्लोक ७३७

३५—कुमारपाल प्रबन्ध, पृ० १८८

३६—प्रबन्धकोश (सिंघी जैन ग्रथमाला) पृ० ९८

# हमारे नये प्रकाशन

जैन साहित्य की प्रगति १९४९—५१
पं० श्री सुखलाल जी संघवी,
आठ आना

Studies in Jaina Philosophy—
Dr Nathmal Tatiya, M A., D Litt
Rs. 16/-

Hastinapura—
Shri Amar Chand
Rs. 2/4/-

धर्म और समाज—
पं० श्री सुखलाल जी संघवी,
डेढ़ रुपया

प्राचीन जैन तीर्थ—(प्रेस में)
डा० जगदीश चन्द्र जैन, M.A., Ph.D.
दो रुपया

आचार्य हेमचन्द्र का शिष्यमंडल—
प्रो० भोगीलाल सांडेसरा, M.A., Ph.D.
पांच आना

A Critical & Comparative Study
of Jain Epistemology— (in the Press.)
Dr. S. Bagchi Rs. 5/-

*The Secretary,*
JAIN CULTURAL RESEARCH SOCIETY
F/3 BANARAS HINDU UNIVERSITY



बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रेस, बनारस।